आदि-धर्म
सनातन-धर्म

-: प्रणेता :-

श्री स्वामी सनातन श्री

निष्काम पीठ प्रकाशन (प्रा. लि.)
श्री स्वामी सनातन आश्रम
गौराबाग, कुर्सी रोड, लखनऊ- २२६ ००७
फोन : ३०६१३७६, ३०६५५७०

न्यौछावर : 'श्री सनातन-प्रेम'

प्रथम संस्करण
चैत्र राम नवमी
30 मार्च, 2004

श्री स्वामी सनातन श्री

प्रस्तुति

श्री कृष्ण-प्रेम

–: मुद्रक :–
कमल बुक बाइन्डर्स
पन्ना लाल रोड, डालीगंज, लखनऊ
मोबाइल : 9839231129
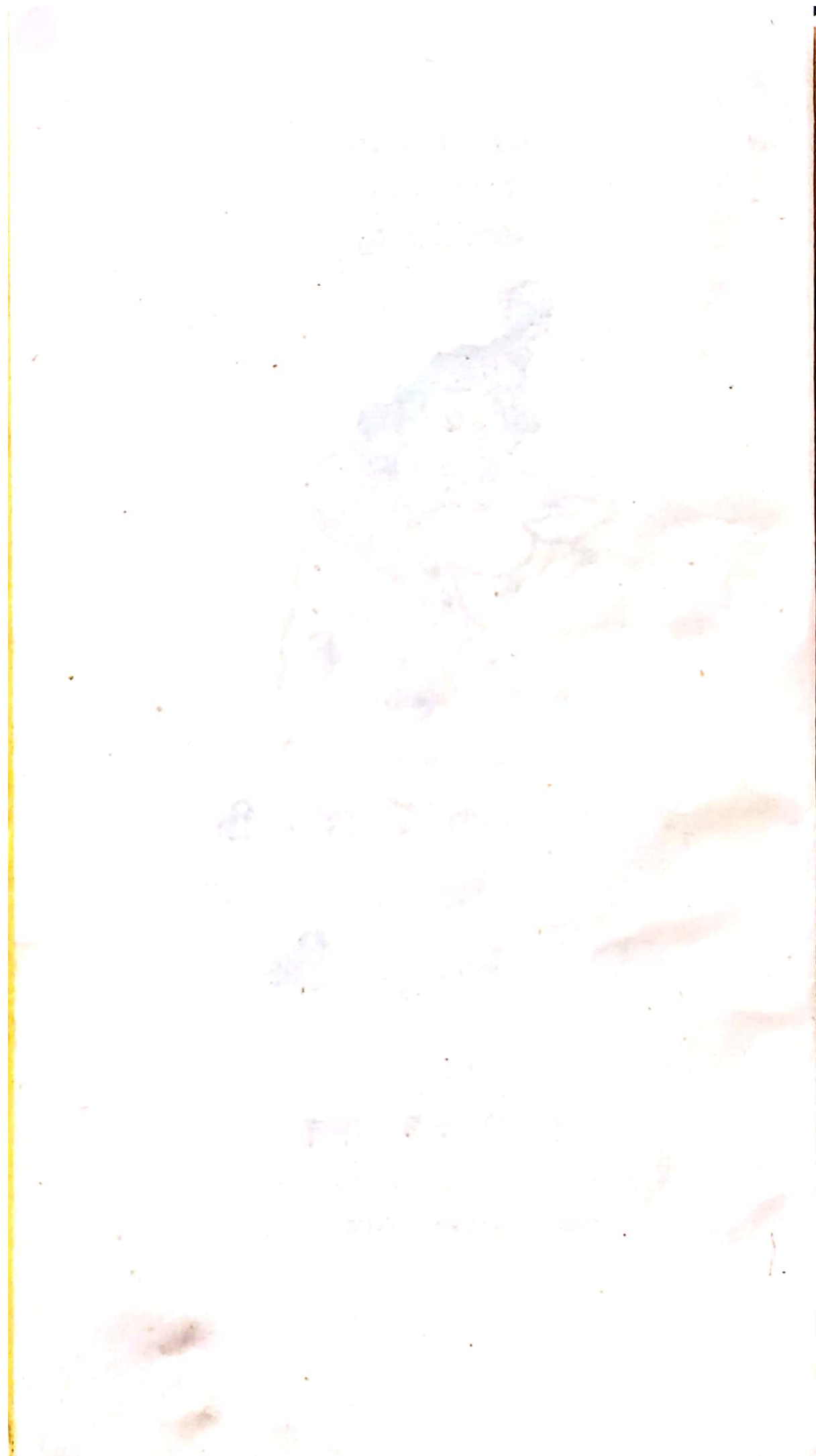
समर्पण

उसको जो अनायास अदम्य अन्तप्रेरणा स्वरूप प्रकट हो गया और चैन नहीं लेने दिया, जब तक आत्मा में बैठने वाले, - मेरे में सब कुछ - स्वामी जी, के पूर्व प्रकाशित अध्यायों का सकलंन नहीं हो गया।

.... एक राम, राम एक,

.. आप; और आपहि, ...।

विषय सूची

अध्याय – १

मूल - स्वरूप

"भरत-खण्ड" का आदिकालीन धर्म सनातन धर्म ही है। सनातन धर्म में नाना सम्प्रदायों का समावेश है। ये सम्प्रदाय १०० (सौ) से भी बहुत अधिक है। आज हम इस धर्म के विषय में चर्चा करेंगे। सनातन धर्म में नाना ग्रंथ, धर्मग्रन्थ के रूप में प्रचलित हैं। चारों वेद, ब्राह्मण ग्रंथ आरण्यादिक ग्रंथ, स्मृति, ग्रंथ, श्रुतियां, शास्त्र, पुराण आदि। ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् आदि अनगिनत ग्रंथ हैं। महाभारत, हरि वंश पुराण, श्री मद् भागवत, रामायण आदि ऐसे ग्रंथ हैं, जो सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित हैं। ईश्वर की मान्यता भी इस धर्म में बड़ी विचित्र है। ईश्वर एक है। "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति।" सनातन धर्म की आदिकालीन अटूट मान्यता है। यही पर ३३ करोड़ देवी - देवताओं की कल्पना- "एकोहम् बहुस्याम" के स्वरूप को भी धर्म आदिकाल से मानता चला आया है। ईश्वर के रूप में भी अनगिनत ईश्वर के स्वरूपों को नाना प्रकार की मूर्तियों और मन्दिरों के रूप में पूजने की आदिकालीन परम्परा रही है। एक ओर परमेश्वर को निर्गुणं ब्रह्म के रूप में पूजते हुए उसकी सगुण स्वरूपा उपासना सनातन धर्म में आदिकाल से सर्वमान्य रही है। आज हम व्यापक रूप से इन विसंगतियों पर चर्चा करेंगे। इस धर्म में एक विलक्षण बात और भी है। नाना ग्रंथों की तरह नाना ऋषि, मनीषीजन और विचारक समय के अंतरालों में प्रकट हुए हैं और उन्होंने अपने-अपने मत व्यक्त किये। सनातन धर्म ने सबको धर्म पुरुष के रूप में स्वीकार किया। परन्तु उनके नाम पर धर्म चलाने की परम्परा को अस्वीकार कर दिया। यहां जितने भी ऋषि, मनीषीजन और संत हुए उन्होंने सनातन धर्म से हटकर किसी धर्म की स्थापना भी नहीं करनी चाही। वे सम्प्रदायों को बनाने के पक्ष में भी नहीं रहे हैं। किसी भी संत और मनीषीजन के गोलोकवास के लम्बे काल के उपरान्त ही दासता के अंतरालों में सम्प्रदायों को सब कुछ मानकर, सम्प्रदाय चलाने की धारणाओं ने जन्म पाया है।

भारत के संत आदिकाल से बहुत ही निर्मल, इच्छा रहित और परहित में जीवन को उत्सर्ग करने वाले रहें हैं। इसीलिए सनातन धर्म विश्व के अन्य धर्मों से आदिकाल से अलग-थलग रहा है। भारत के संत ने ईश्वर की कल्पना भी जीव मात्र के शरीर में की है। उसे किसी अन्यत्र लोक में नहीं भेजा। सबमें ईश्वर आत्मा होकर बसते हैं। यही मान्यता सनातन धर्म में आदिकाल से चली आ रही है। श्री राम हों अथवा भगवान श्री कृष्ण, महा विष्णु हो, महा-शिव हों अथवा महिषासुर

मर्दिनी मां जगदम्बा हों, सभी यहाँ पर घट-घट वासी ही माने गये हैं।

इन सारे देवताओं के होते हुए भी सम्पूर्ण ग्रंथों के रहते हुए भी, सनातन धर्म इन सारे धर्मग्रंथों को आध्यात्म के विश्वविद्यालय की पाठ्य-पुस्तक ही मानता है। इसीलिए धर्म ग्रंथ के रूप में प्रकृति को ही यहां धर्म का मूल ग्रंथ माना गया है, और ईश्वर की कल्पना सम्पूर्ण सचराचर में की गयी। परमेश्वर, ही आत्मा होकर प्रत्येक पेड़-पौधे को, पशु-पक्षियों को, देह-धारियों को प्रकट करता है, इसलिए वह घट-घट वासी है। प्रकृति ही मूल ग्रंथ है जिसे स्वयं परमेश्वर, आत्मा होकर उत्पन्न करते हैं। जीवन्त सचराचर ही इस ग्रंथ के अक्षर है। जिन्हें भगवान आत्मा होकर निरन्तर प्रकट करते है।

सनातन धर्म शब्द का अर्थ है ''नित्य'', ''अजर'', ''अमर''। इस प्रकार सनातन शब्द सम्पूर्ण सचराचर से लिया गया। किसी सन्यासी के नामांतर धर्म चलाने की कल्पना यहां नहीं की गयी। प्रकृति और आत्मा द्वारा प्रकट हो रहा सम्पूर्ण सचराचर ही धर्मग्रंथ है। हम सब इस किताब के अक्षर हैं। इसी धर्मग्रंथ के अंग है। यही हमारे धर्म का स्वरूप है। यही सनातन धर्म है।

प्रकृति और पुरुष ही इस धर्म का मूल ग्रंथ है। उन्हें मानकर हमें अपने धर्म को धारण करना है। यहां किसी भी व्यक्ति की मोहर सनातन धर्म, धर्म पुरुष के रूप में नहीं स्वींकारी गयी। संत, ऋषि और मनीषीजन इन धर्मग्रन्थों को, पढ़ानें वाले आचार्य के रूप में ही प्रतिष्ठित हुए तथा वे ही जब हमको इस मार्ग पर चलने में हमारे अग्रणी बने। मार्गदर्शक बने, गुरु कहाये।

पूर्ण बौद्धिक परिपक्वता को सनातन धर्म ने सर्वोपरि माना है। आदिकाल से ही तर्कशास्त्र को धर्म के साथ जोड़कर मनुष्य को तर्क की कसौटियो पर संदेह निवारण का व्यापक अधिकार दिया गया। सनातन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसमें धर्म पर, मान्यताओं पर, यहाँ तक कि ईश्वर पर भी संदेह करने का अधिकार मनुष्य मात्र को दिया गया है। जो ईश्वर को नहीं मानते, ऐसे नास्तिक दर्शन को भी एक दर्शनशास्त्र के रूप में सनातन धर्म ने ग्रहण किया।

अध्याय – २

संकल्प

सनातन धर्म में 'संकल्प को' बहुत अधिक महत्व दिया गया है। प्रत्येक पूजा में सबसे पहले 'संकल्प' लिया जाता है। किसी भी शुभ कार्य को, नव ग्रह पूजन के उपरान्त ही आरम्भ करने की परम्परा आदि काल से सनातन धर्म में रही हे। सांसारिक कार्य हों, यथा-विवाह, जन्म-मृत्यु आदि, सामाजिक कार्य हों अथवा धार्मिक कार्य हों, सभी कार्यों का आरम्भ पूजा से ही होता है। प्रत्येक पूजा में संकल्प लिया जाता है। जल को अंजलि में लेकर अभीष्ठ फल की कामना करके कार्य की निर्विघ्न समाप्ति हेतु संकल्प लिया जाता है। संकल्प लेते समय इन शब्दों का प्रयोग करते हैं यथा - ''जम्बू द्वीपे, 'भरत खण्डे।''

संकल्प में इन शब्दों का प्रयोग सनातन संस्कृति, जाति की पहचान, देश की पहचान तथा भौगोलिक स्वरूप को स्पष्ट करता है। ''जम्बू द्वीप'' ''एशिया महाद्वीप'' का आदि प्राचीन नाम है। ''भरत-खण्ड'' शब्द का प्रयोग ''भारतवर्ष'' के लिए आया है। संकल्प में इन शब्दों का प्रयोग बहुउद्देशीय होता रहा है। मूल सनातन धर्मी तथा इस भू-खण्ड पर जन्में सभी सम्प्रदाय इसी शब्द को, अपनी सांस्कृतिक तथा देश और जाति की पहचान के रूप में प्रयोग करते रहें हैं। ''जम्बूद्वीप का जो ''भरत-खण्ड'' है, वहाँ पर हम इस संकल्प को धारण करते हैं, अमुक उद्देश्य की पूर्ति के लिए, अमुक कल्याण के लिए आदि-आदि।

''ऋग्वेद'' में तथा सम्पूर्ण वेदों में ''भरत'' शब्द का प्रयोग सबका भरण-पोषण करने वाले परम् पिता परमेश्वर के रूप में हुआ है। ''भरत'' अर्थात् जो सबका भरण-पोषण करने वाले हैं, जो सबको उत्पन्न करने वाले हैं, तथा जो सबके स्वामी हैं, उन्हीं को संस्कृत में ''भरत'' कहते हैं। ''भारत'' शब्द का अर्थ है, ''भरत के पुत्र अर्थात् ईश्वर के बेटे, अवतार, मसीहा। ''आर्य'' शब्द का प्रयोग जो अब बहुतायत में होने लगा है। इस शब्द का प्रयोग हमें ''सनातन धर्म'' के अतीत के ग्रंथों में जाति के रूप में प्रयुक्त होता हुआ कहीं भी नहीं मिलता। संस्कृत में ''अर्य'' शब्द का प्रयोग श्रेष्ठता के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यथा-आच+अर्य =। ''आर्य'' शब्द का प्रयोग ''भारत'' में न होकर ''ईरान'' में व्यापक रूप में होता आया है। आज भी उनके यहां ''आर्यामेहर'' नाम का विश्वविद्यालय भी है, तथा वहां का राष्ट्रीय सम्मान आज भी ''आर्या-मेहर'' है। जैसे यहाँ ''भारत रत्न'' होता है। आर्य समाज के प्रादुर्भाव के साथ ही इस शब्द का प्रयोग व्यापक रूप में होने

लगा। आर्य समाज से पूर्व संकल्प में ''आर्यावर्तान्तरगते'' इस शब्द का प्रयोग संकल्प में कभी भी नहीं हुआ। शुद्ध संस्कृत ''अर्य'' ही है, ''आर्य'' नही, तथा ''आर्या'' कदापि नहीं। जाति मूलक शब्द आदिकाल से ''भारत'' ही रहा है। ''हिन्दू तथा ''इण्डियन'' शब्दों का प्रयोग भी गुलामी के अंतरालो में ही प्रकट हुआ। इसका स्पष्ट प्रमाण हमें ''महाभारत'' युद्ध से मिलता है। जाति का नाम ''भारत'' था इसीलिए एक व्यापक युद्ध का नाम ''महाभारत'' रखा गया। यदि जाति का नाम ''आर्य'' होता तो यह युद्ध महा 'आर्य युद्ध' होता अथवा 'महा हिन्दू युद्ध' होता। इन शब्दों का चलन जाति संज्ञयक न होने के कारण युद्ध का नाम ''महाभारत'' ही पड़ा। ''श्री मद्भगवत् गीता'' में भगवान ''श्रीकृष्ण'' भी वीरवर ''अर्जुन'' को ''हे भारत'' शब्द से सम्बोधित करते हैं, तथा लगभग सभी वैदिक ग्रन्थों में ''भारत'' शब्द जातिगत और व्यक्तिगत संज्ञा सूचक शब्द के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।

''भारत'' का संत जिसने समय-समय पर ''ब्रह्मा'' की वाणी को योग के द्वारा इस धरती पर उतारा, अति निर्मल, सूक्ष्म दृष्टा, अपरिग्रही, निर्लिप्त, मिथ्याभिमान से रहित तथा पूर्णतः प्रकृति और पुरुष को समर्पित रहा है। उसकी दृष्टि सदा समभाव में रही। उसने अपने आप को भी, कभी भी, मनुष्य से अलग करने का प्रयास नहीं किया। जब लोग उससे पूछने गये कि ''रे सन्यासी ! बता हमको बनाने वाले परम पिता परमेश्वर कहाँ रहते हैं ? उसने उत्तर दिया - ''परमेश्वर आत्मा होकर सबकी देह में वास करते हैं।'' उसने कहा जिस ईश्वर की मैं पूजा करता हूँ वे साक्षात् प्रभु आत्मा होकर रे भक्त ! तेरे भीतर बैठे हुए हैं।

जब ईश्वर आत्मा होकर तुम्हारे भीतर बैठे हैं। वे सभी में आत्मा होकर विराजते हैं तो हममें न तो कोई छोटा है, और न ही बड़ा है। हम सब समान है। ''भरत'' हमारा पिता है वही हम सबको उत्पन्न करता है। हम सब उसी की संतान है इसलिए ''भारत'' हैं। हम सब समान रूप से ईश्वर के पुत्र हैं हम सब एक ही पिता की संतान हैं। हम सब उसके पुत्र होने से उसी के जैसा आचरण करने हेतु, इस धरती पर प्रकट किये गये हैं। पुत्र वही होता है, जो पिता की राह जाय। अपने पिता, घट-घट वासी आत्मा परमेश्वर का ही अनुसरण करें। उसने कहा, कि हम सब सच्चे अर्थों में 'भारत' बने। हमारा पिता 'भरत' आत्मा होकर सम्पूर्ण सचराचर को जीवन, साँस और धड़कन, भोजन, संतति, सुख और ऐश्वर्य से भर रहा है। ''आत्मा होकर हमारा पिता 'भरत' हम पर सब कुछ न्यौछावर कर रहा है''। वह आत्मा होकर आज भी उसी तरह हमारी जूठन को रक्त में बदलता है। जैसे भगवान ''श्रीराम'' ने शबरी के जूठे बेर खाये थे।

आत्मा होकर जब हमारा पिता बिना किसी इच्छा के पूर्ण निष्काम भाव से हमें जीवन के क्षण और सब कुछ दे रहा है। परमेश्वर ने हमसे कभी सांसों की कोई कीमत नहीं माँगी, "तो हमारा भी धर्म है कि हम प्रकृति और पुरुष द्वारा प्रदान की गयी इन सांसों को निष्काम भाव से प्राणी मात्र की सेवाओं पर न्यौछावर करें। प्राणी मात्र के सुख और अमृत का हेतु बनें। हर होंठ की मुस्कराहट बनें, हर आँख की रोशनी हों। हर चेहरे की खुशी बने, अपने पिता की भाँति ही हम भी धरती के ईश्वर कहलायें।"

प्राणी मात्र की समर्पित सेवा, निज शरीर को भी ईश्वर की धरोहर जानकर ही प्रयोग करना आत्मा होकर "नारायण" को सब में देखना, उन्हीं के होकर प्रत्येक क्षण को उन्ही के चरणों में अर्पित करते हुए, सबके होकर जीना ही "भारत" शब्द का सही अर्थ है। सच्चे "भारत" वही है जो "भरत" अर्थात् परमेश्वर की राह चलें। सब के सुख के हेतु हों। सबके लिए जीना सिखें।

संकल्प में इन शब्दों के प्रयोग के साथ इस महान भावना की अनुभूति हमें हो, उसी उद्देश्य से प्रत्येक पूजा के पूर्व संकल्प को महत्व दिया गया। "भरत" के पुत्र होकर हम यूं आदिकाल से "भारत" कहलाते रहे हैं।

दूसरे देशों में ईश्वर को मनुष्य से अलग कर सातवें आसमान, सप्तलोक, (सेविन्थ हैविन) सम्भवतः इसीलिए भेजा गया, कि वह मनुष्य से और उसकी गन्दगी से दूर रहे, अथवा बिना किसी बिचौलिए के वो मनुष्य को मिल न सके ? "भारत" का संत ईश्वर के नाम पर लोगों को समूहों में बांटकर ठेकेदारी करने में विश्वास नहीं करता था। वो विनम्र संत ईश्वर को मनुष्य मात्र में देखकर, जीव मात्र को ईश्वर की ही भाँति ग्रहण करने में ही विश्वास करता रहा। सम्भवतः स्वर्ग के टिकट बेचने में भी उसकी आस्था नहीं थी इसीलिए उसने ईश्वर को हमसे कभी अलग नहीं किया ? सदा हमारे भीतर बिठाया और हमें ईश्वर को धारण करने वाले मनुष्य का सम्मान दिया। "भारत" का निर्मल संत सभी में अपनी आत्मा का दर्शन करता है, विदेशों में संत ईश्वर के नाम पर अपने भ्रम और मिथ्याभिमान को कई आसमानों की ऊचांइयाँ देते हैं ?

जहाँ से सूरज हट गया, वहाँ पर क्या हुआ ? अंधेरी रात। यदि हम ईश्वर को सातवें आसमान भेज देंगे तो धरती पर क्या रहेगा ? शैतान का अंधेरा ही तो! भारत के पूर्ण मनोवैज्ञानिक संत इस सत्य को भली प्रकार जानते थे, इसीलिए उन्होंने ईश्वर को सप्तलोक नहीं भेजा। सूरज को अर्थात् ईश्वर को आत्मा बनाकर प्रत्येक घट में रखा। भारत के संत ने कहा, "उसकी आत्मा को, उसके ईश्वर को, उसके सूरज को, उसकी रोशनी को, उसके भीतर ही रखो। जिसके अंतर का ईश्वर

उठकर सप्तलोक चला जायेगा तो ईश्वर के रूप में उसकी सच्चाई, ईमानदारी, पवित्रता, संकल्प, शक्ति, मानवीयता, सभी कुछ तो सप्तलोक चला जायेगा। इंसान को इतना खोखला मत बनाओ। उसके ईश्वर को उसके घट के भीतर रखो। ईश्वर घट-घट वासी हो।'' भारत का संत जीव को, उसके बनाने वाले ईश्वर से कभी अलग नहीं करता। भारत की संस्कृति और धर्म न आदिकाल से ही इस विचारधारा का अनुसरण किया।

यही ''सुर'' और ''असुर'' का भेद है। 'सुर' की मान्यता थी, कि वह ईश्वर से जुड़ा हुआ है। अर्थात् देवत्व उसमें है। ''असुर'' का कहना था अ+सुर=असुर अर्थात् वह सुर (सूर्य), देवत्व से रहित है। वह उसमें नहीं, अन्यत्र लोक में है। ''असुर'' शब्द का अर्थ है जिसमें ''सुर'' अर्थात् देवत्व न हो। ईश्वर उसकी देह में वास न करके किसी अन्यत्र आसमान में बैठा हो। आदि काल से सारे धार्मिक कथाओं में, सनातन धर्म में, सुर विचार की ही पूजा की गयी। असुर विचार को सदा-सदा सनातन धर्म ने अस्वीकार किया। 'राम' की कथा में भगवान 'श्रीराम' सुर नायक हैं ''रावण असुर राजा है। ''कृष्ण'' की कथा में ''कृष्ण'' सुर नायक हैं। जरासंध, भस्मासुर, दंतवक्त्र आदि असुर राजा हैं, कंस भी उनके साथ है। दोनों विचार लगता है सभी कालों में प्रचलित रहे हैं तथा सत्ता और शक्ति सम्पन्न रहे हैं। निरन्तर आपस में लड़ते भी रहें हैं।

(असुर) की मान्यता के अनुसार नारी भी सम्पूर्ण प्रकृति की तरह भोग्या है। उसे मनुष्यता के अधिकार नहीं दिये जा सकते हैं। ''असुर'' नारी को मनुष्यता के अधिकारों से वंचित करते हुए उसके संतान और सम्पत्ति के अधिकार को भी नहीं मानता है। पुरुष का अधिकार है कि वह पत्नियों और वैश्याओं के समूह रखें। उसे अधिकार हो कि वह जब चाहे, जिस पत्नी को चाहे, त्याग दे, बेच दे, किसी को तोहफा कर दे। परन्तु नारी को पति त्याग का अधिकार नही। बहुत से स्थानों पर ''असुर'' ने नारी को पूजा और धर्म स्थान पर जाने के अधिकार से भी वंचित कर दिया था। नारी दूषित है, इसलिए वह पूजा के स्थान पर नहीं जा सकती। नारी वेद का पाठ भी नहीं कर सकती। उसे ईश्वर का नाम लेने का भी अधिकार नही है। वह 'ॐ' शब्द का उच्चारण भी नहीं कर सकती। इस प्रकार के बहुत से प्रतिबन्ध असुरों ने नारी पर लगाये।

''सुर'' विचार धारा ने जहां ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में परमेश्वर की कल्पनाओं को साकार किया है, वहीं पर नव-दुर्गा के रूप में, नारी के रूप में, परमेश्वर की प्रतिष्ठा भी प्रत्येक मन्दिर में की गयी। नारी को पूजा में, यज्ञ में, दायें बैठाकर धर्म के सारे अधिकार पुरुष से पहले नारी को 'सनातन धर्म' में प्रदान किये

गये। पति चयन का अधिकार भी स्वयंवर प्रथा के रूप में, 'सनातन धर्म' ने प्रथम स्थान नारी को दिया। ''भारत'' की आदि सनातन संस्कृति में, 'आदि-भारती' में नारी धर्म स्थान की पुजारी, धर्मगुरु और मंत्रदृष्टा ऋषि भी रही है, यथा :- अदृश्यन्ति, लोपामुद्रा, गार्गी, मैत्रेई आदि-आदि।

पूजा में सबसे पहले संकल्प में ''भरत-खण्ड'' (भारत) शब्द की कल्पना के साथ यही भाव जुड़े हुए हैं। 'सनातन धर्म' की आदि काल से मान्यता रही है कि जो विचारों में पवित्र नहीं, जो आत्मा की तरह अभेद नहीं, उसकी संकल्प शक्ति क्षीण होती है। वह कभी भी अपने जीवन के अभीष्ट को प्राप्त नहीं होता, इसलिए हम सब संकल्प में अपने स्वरूप को पहचाने, कि हम ईश्वर के पुत्र हैं। अर्थात् 'भारत' हैं। पुत्र सदा अपने पिता का अनुसरण करता हुआ शोभा पाता है। हमारा भी धर्म है कि हम इस शरीर को आत्मवत, आत्मयज्ञार्थ, आत्मसेवार्थ धारण करें। अपने पिता परमेश्वर का सम्पूर्ण सचराचर में अभीष्ट करें। सबमें वह 'भरत' ही है ऐसा समझकर सबके साथ उचित व्यवहार करें। तभी सच्चे अर्थों में हम 'भारत' कहलाने के अधिकारी हैं। संकल्प में इसीलिए आदि पहचान का समावेश किया गया। जो अपने को ही नहीं जानता वह दूसरे को सही अर्थों में कैसे जान पायेगा ? इसीलिए पूजा में, पूजा के पूर्व, लिए गये संकल्प का अत्यधिक महत्व है।

इसके उपरान्त पूजा आरम्भ में ही भगवान विनायक गणपति की पूजा होती है। भगवान विनायक पूर्ण बौद्धिकता के प्रवर्तक माने गये हैं। ऐसा क्यों ?

अध्याय – ३

भगवान श्री गणेश

सभी शुभ कार्यों का आरम्भ पूजा से ही करते हैं। संकल्प के उपरान्त पहली पूजा भगवान 'गणेश' की ही होती है। 'गणेश' कई नामों से जाने जाते हैं, यथा – गणपति, विनायक, लम्बोदर आदि। आदिकाल से हमारी यह परम्परायें रही हैं कि सबसे पहले भगवान विनायक की पूजा करें। कोई भी सद्ग्रंथ का आरम्भ हो, राम की कथा हो अथवा कृष्ण की कहानी हो, विनायक की पूजा से ही आरम्भ होगी।

भगवान गणपति, शिव और पार्वती के पुत्र कहे जाते हैं। ऐसी कथा आती है कि एक बार, भगवान शिव को पत्नी ने, एकांत के क्षणों में, आटे का एक बालक बनाया ! बड़ा सुन्दर बना। शिव पत्नी ने उसको प्राण दे दिये। प्राणों की प्रतिष्ठा कर दी। वह जीवन्त हो उठा। उनको वह बालक बहुत प्रिय था। बहुत स्नेह करती थीं वह उससे। एक बार उसको द्वार पर, पहरे पर बिठाकर वह स्वयं अपने स्नानगृह में थीं। उसे आदेश दे दिया था, कोई भी आये उसे भीतर नहीं आने देना। माता की आज्ञा का, बालक पालन करने लगा। उसी समय महा शिव पधारे। बालक ने उनको भीतर जाने को मना कर दिया।

बहुत सी कथाएँ हैं युद्ध हुये आदि-आदि। परन्तु, कथा है कि शंकर ने त्रिशूल से उस बालक का सिर उड़ा दिया। "शिव" पत्नी को पता चला, तो वे अत्यधिक पीड़ित हो उठीं। उन्होंने कहा, "आपने यह क्या कर दिया ? मैंने ही इस पुत्र को प्रकट किया है। आप अपने ही पुत्र के हत्यारे हो गये हैं।"

शंकर ने गणों को चारों ओर भेजा। परन्तु सिर का कहीं पता न चला। शिव ने कहा :-उत्तर की ओर मुंह किये, जो तपस्या में है उत्तरायण है, ऐसे किसी शीश को वे ले आयें। कथा इस प्रकार है कि ऐरावत का पुत्र, जो कहीं उत्तर की ओर मुंह करके तपस्या कर रहा था, दक्षिण की ओर उसका पृष्ठ भाग था। गण, उसी का सिर काट कर ले आये और उस सिर को ही उन्होंने उस बालक के धड़ के साथ (महाशिव ने) जोड़ दिया। इस प्रकार भगवान-विनायक, जिनका सिर हाथी का है-वे गणपति कहलाये। ज्ञान की अमृतमयी धारायें, जो भी इस धरा पर अवतरित हुई और आज भी जो हमारे पास चारों वेद आदि अमृतमय ग्रन्थ हैं, उन्हें भगवान गणेश ने ही हम तक पहुंचाया है। इन कथाओं के रहस्य में अपने आप को सींचने के लिए हमें कुछ और गहरे उतरना होगा।

पहला प्रश्न आपसे पूछना चाहूंगा-कि क्या आप जानते हैं कि आपकी भाषा कौन सी है ? क्या आप जानते हैं कि आप किस भाषा में बोलते हैं ? आप में से बहुत से उत्तर देंगे कि हमारी हिन्दी ही भाषा है। भारती ही हमारी भाषा है, कोई तमिल बतायेगा, कोई तेलगू, कुछ अंग्रेजी की बात करने लगेंगे, और कुछ उर्दू दां हो जायेंगे। लेकिन मैं फिर भी पूछना चाहूंगा कि मेरे प्रश्न का उत्तर मुझे नहीं मिल पाया है। आपकी भाषा कौन सी है ?

सत्य रूप में एक ही उत्तर आयेगा - हम प्रकृति के अंग है। प्रकृति के प्रतीकों से हटकर हमारी कोई भाषा नहीं, कोई अभिव्यक्ति नहीं। जीव मात्र की भाषा, प्रतीकात्मक भाषा ही, उसकी भाषा है। चाहे उस भाषा की लिपि कोई भी हो। प्रतीकों के द्वारा ही हम सोचते हैं, समझते हैं, सुनते हैं, बतलाते हैं। इसीलिए, आदिकाल से चली आ रही भारतीय संस्कृति की यह महान परम्परा है। वेद हों, श्रुतियां हों, ब्राह्मण ''आरण्यक'' ग्रन्थ हों, उपनिषद् हों, पुराणों की कथा आदि, मानस के गीता हो या कृष्ण की कहानी हो बात, प्रतीकात्मक भाषा में ही कही जाती है। गणपति भी, हमारे अराध्य देव भी, प्रतीकात्मक भाषा में हमें अद्भुत उपदेश करते हैं।

हाथी का सिर नहीं जिसका, हाथी की मस्ती नहीं जिसमें, जो बौद्धिक परिपक्वता से परिपूर्ण नहीं, उसका लक्ष्य कैसा ? उसका अभियान कैसा ? उसका कार्य कैसा ? और उस कार्य की प्राप्ति कैसी ? इसीलिए सबसे पहले, हम स्थिति-प्रज्ञ, बुद्धिमता, भगवान विनायक की पूजा करते हैं। आप हाथी की मस्ती को तभी तो धारण कर सकते है। और तभी तो आप धारण कर पायेंगे, जब आप बौद्धिक परिपक्वता को प्राप्त होंगे।

आज हम सब कहते हैं कि स्वामी जी, ''यह संसार दुखों की खान है।'' ''नानक दुखिया सब संसार।'' आप सबको चिन्तायें सताती हैं। पीड़ा, भय, आतंक, अनिश्चितता के क्षण, इसका दुख, उसकी पीड़ा। थोड़ा सा हम, इसी पर विचार करें, और फिर भगवान विनायक को सामने रखें तो शायद हम यह बात अच्छी तरह से समझ जायें। मैं आपको, आपके, बचपन की ओर ही एक बार ले चलूं। याद करें, जब साइकिल पर आपने हाथ रखा था तो कितना भय था ? कितना डर था? कितना आतंक था ? अनिश्चितता के क्षण थे ! हम ठीक से हैण्डिल पकड़कर उसको चला भी तो नहीं पाते थे। लगता था उधर ही गिर तो न जायेंगे ? जब तक आप सीखते रहे, कितने सतर्क और आतंकित रहे। लेकिन जब साइकिल चलाने में आपको परिपक्वता प्राप्त हो गई, तब कितने शान्त (रिलेक्स) होकर हाथी की मस्ती के साथ, आराम से, साइकिल पर बैठकर चलाने लगे। जो आपके साथ

चल रहा था, उस से भी आप बात करने लगे। उसको छेड़ने भी लगे। तीसरे विषय पर बात भी करने लगे। सड़क पर जो पटरी पर खड़ा दिखा, उसे बुलाने भी लगे। उसके साथ नमस्ते अभिवादन भी करने लगे। आपको साइकिल चलाने का भय जाता रहा।

जैसे आपने, साइकिल चलाना सीखा था। काश ! आप इस "जीवन-रूपी साइकिल" को उतनी ही जल्दी, उतनी ही अच्छी तरह से चलाना सीख पाये होते, तो आज यह भय आतंक ही क्यों होता ? भय, अनिश्चित्ता, बौद्धिक-अपरिपक्वता का प्रतीक है। हम विनायक को अपनी जीवन में उतार नहीं पाये हैं। भगवान गणपति, विनायक हमारी बौद्धिक परिपक्वता को ही हाथी के सिर से, हाथी की मस्ती से, प्रतिबिम्बित करते हैं।

उदाहरण देते है - एक छोटा लड़का है, उसके छोटे-छोटे खिलौने हैं। छोटा सा उसका संसार है। उसने खिलौनों से ही अपने आप को (आइडेन्टीफाई) तद्रूप किया हुआ है। अपने आप को वह उन खिलौनों के रूप में ही देखता है। उसकी (आइडेन्टीफिकेशन) उसकी एक-रूपता उन खिलौनो के बराबर है। जब भी कोई खिलौना टूटता है,वह लड़का रोने लगता है दुखी हो जाता है, क्यो ? क्योंकि वह खिलौना थोड़े ही टूटा - वह लड़का टूट गया है उसने अपना तादात्म उन खिलौनों के साथ जो कर रखा है। कल्पना करें, कि वही बालक बड़ा होने लगा है। युवा अवस्था को भी वह पार कर रहा हे। उसका विवाह हो गया है। एक बड़ी सुन्दर सुघड़ सी पत्नी भी उसको प्राप्त हो गई है। ऐसे समय में, जबकि बीबी के, अपनी पत्नी के पास वह खड़ा हुआ है, यदि कोई खिलौना बचपन का टूट जाय तो क्या वह पत्नी के सामने भॉय-भॉय करके रोयेगा ? नहीं न। ठीक उसी प्रकार जब तुम इस क्षण भंगुर जगत के हर खिलौने के लिए रो रहे हो, हर टूटते खिलौने के साथ टूट भी रहे हो, हर मिटते रूप के साथ तुम मूर्छित हो रहे हो, मिट रहे हो। क्या यह सत्य नहीं है कि समय ने अवश्य तुम्हारी आयु बढ़ायी परन्तु बौद्धिक स्तर नहीं उठ पाया है ? तुम विनायक को अपने जीवन में उतार नहीं पाये हो। गणपति अभी भी तुम्हारे लिए अछूता है। तुम जानते नहीं हो भगवान गणेश को।

दूसरा उदाहरण देते हैं। बाग में, थोड़ा सा आप मेरे साथ आयें। देखो, सामने छोटे-छोटे पौधे खिल रहे हैं। छोटे-छोटे पौधे बाग में लगे हैं। हर पौधे को भय है ? उसे एक माली चाहिए। माली आयेगा नहीं, जोते-बोयेगा नहीं, तो वह पौधे मर न जायेगें। माली सींचे, जोते, उनकी देख रेख करे, तभी तो पौधे जीवित रह पायेंगे, और इन्हीं पौधों के साथ, एक बहुत बड़ा बरगद का पेड़ भी खड़ा हुआ है। क्या इस बरगद को भी मालियों का इन्तजार है ? नहीं। क्योंकि, इस बरगद ने भीतर जड़े डाल दी हैं। जिन्होंने अपनी आत्मा में, अपने विचारों की जड़े फैला

दी और जो विचारों के विशाल बरगद हो गये। अब उन्हें संसार मालियों का क्या इंतजार है ? नहीं, उसे मालियों की क्या जरूरत ? उसकी जड़े तो नीचे तक चली गयी हैं। हां एक बात और भी अद्‌भुत हो गयी हैं। इस बरगद के पेड़ को, मालियों की जरूरत नहीं। लेकिन मालियों को तो इस पेड़ की जरूरत हैं छाया चाहिए। याद रखो जब तुम विचारों के बड़े बरगद हो गये हो, गणपति विनायक का सिर तुम्हारा सिर हो गया है, तो संसार-मालियों को तुम्हारी जरूरत है। अब तुम मालियों के लिए हताश, प्यासे नहीं। तुम सदा तृप्त हो। आज हर अतृप्त, आकर तुम्हारे पास, तृप्त होगा। जब तक तुम विचारों के छोटे बचकाने पौधे हो, तुम मालियों के हाथों खेल रहे हो। अतृप्तियां ही खेलेगीं तुमसे। तुम सुखी, शान्त, मस्त, निश्चिन्त कैसे हो पाओगे ?

इस विशाल बरगद के साथ जुड़ी, एक और विचार धारा है। उसे भी हृदयंगम् करो। जब गगन बरसता है। मेघ! जहां सघन वन होते हैं, जहां घने जंगल होते हैं, वहां मेघ मूसलाधार बरसते हैं। रेगिस्तानों में बूंद नहीं गिरा करती। यदि ईश्वर की कृपा भी उतरेगी तो विचारों के विशाल बरगद पर। अर्थात् जो बौद्धिक परिपक्वता से पूर्ण हो गये हैं, ईश्वर की कृपा भी उन्हीं पर बरसती है। उन्हीं के कारण छोटे पौधों को भी बूंदे मिल जाया करती हैं। लेकिन गगन बड़े बरगद के लिए ही बरसता है। इसे कभी मत भूलना। इसीलिए सत्संग की हम कल्पना करते हैं कि उस विशाल बरगद रूप संत को बुलायें। उसकी वाणी से वह बूंदे बरसें, तो हम प्यासे , अतृप्त छोटे पौधों में भी कुछ जीवन आये। कुछ रस आये, सुख शाँति के क्षण हो। प्रभु को जानने की और पाने की जिज्ञासा, और प्यास बढ़े, और हमारे भी कदम कुछ सत्य की राह पर चलें। चलो, उस विशाल बरगद को बुलायें और सत्संग करें।

भगवान - विनायक अर्थात् ''हाथी की मस्ती'' इसी को ही प्रतिबिम्बित करती हैं। गणपति की मस्ती हो, तभी किसी कार्य का ''श्री गणेश'' हो, अन्यथा तो वह कार्य ही हमको खा जायेगा।

भगवान गणपति के दोनों ओर रिद्धि और सिद्धि खड़ी है। रिद्धि और सिद्धि का अर्थ है (एचीवमेन्ट्स) उपलब्धियां ! भौतिक, सामाजिक, ऐश्वर्य ! वही तो रिद्धियां और सिद्धियां हैं। जब मस्तिष्क में देह में गणपति वास करें तभी मेरे दायें और बायें रिद्धियां और सिद्धियां हों। क्यो ? कल्पना करें कि एक छोटा बालक है। उस बालक के हाथ में गलती से एक भरी हुई रिवाल्वर आ गयी है। पिस्तौल! वह बालक जानता नहीं है, कि यह असली है। वह तो उसे खिलौना ही समझता है। जब भरी हुई पिस्तौल बच्चे के हाथ में आती है, घर के सारे लोगों को भय

और आतंक होता है। बालक जानता नहीं है, अबोध है। कहीं अपने को ही गोली मार दे ? बच्चे को बोध नहीं है। हर व्यक्ति भय से आतंकित हो उठता है। लेकिन वही भरी हुई पिस्तौल, जब गांव के थानेदार के हाथ में आती है। तो सारा गांव निर्भय होकर, आराम से सो जाता है। सुरक्षा का उचित प्रबन्ध है। पिस्तौल लिये थानेदार घूम रहा है गलियों में। इस प्रकार पिस्तौल आतंक नहीं है। जब बचकाने हाथ में है, तो आतंक है। जब परिपक्व हाथों में वही रिवाल्वर भरी हुई आती है तो सुख का कारण, निश्चिन्तता का कारण बन जाती है। रिद्धियों और सिद्धियों को तुम भरी पिस्तौल (लोडेड रिवाल्वर) की तरह जानों। वह जब परिपक्व बौधिक स्तर के पास है, प्राणी मात्र की समर्पित सेवा में वही भौतिकता लगी है यही भौतिकता, या धन आदि जब अपरिपक्व हाथों में हैं, तो भाई-भाई में मुकद्मा, गोलियां चलती, बिखरते घर ! उजड़ते परिवार ! सगे भाई, एक दूसरे के खून के प्यासे ! क्यों ? क्योंकि, उन्होंने रिद्धियों और सिद्धियों का आवाहन तो किया। गणपति को अपने जीवन में उतार न पाये। इसीलिए हर पूजा और भक्ति में, हर भक्त जानता है, कि हे विनायक ! हे गणपति ! आप सबसे पहले हमारे पास आयें। हम आप ही का अपने इस देहरूपी देवालय में आवाहन करें। आप हमारे मस्तिष्क पर, हे बुद्धिमतां ! हे विनायक पधारें। जिससे ये रिद्धियां और सिद्धियां कहीं हमारा विनाश न कर जायं। पहले हे गणपति ? महाशिव के पुत्र ! आप हमारे बौद्धिक धरातल पर आप आसीन हों। तभी ये रिद्धियां और सिद्धियां हमारे दायें व बाये प्रकट हों। विनायक ! आप ही पहले पधारें, इसलिए सर्वप्रथम मैं आप ही की पूजा करता हूँ।

बौद्धिक परिपक्वता, ही हमारे सुखद-जीवन का रहस्य है। गणपति का जो मुख मण्डल है वह जीवन को अमृतमय बनाने के लिए हर ओर से उपदेशात्मक है। भगवान विनायक, एक दन्त है। अर्थात् एकाग्र, एक लक्ष्य है। जिसके जीवन में एकाग्रता नहीं, वह किस गन्तव्य को जायेगा ? किस लक्ष्य को प्राप्त करेगा ?

महाभारत की कथा में, आचार्य द्रोण जब बच्चों की धर्नु विद्या की परीक्षा ले रहे होते हैं, सिखलाने के उपरान्त। पेड़ पर एक चिड़िया रखी जाती है, लकड़ी की। सबसे कहा जाता है - कि उसकी आंख को बींधना है, संधान करो। लेकिन सभी निशाना तो लगायें पर बाण न चलायें, जब तक आचार्य न आदेश दें। सब बाण तानकर खड़े हैं आचार्य सबसे पहले दुर्योधन से पूछते हैं,

"दुर्योधन ? तुम्हे क्या दिख रहा है ?" कहा "आचार्य ! पेड़, पेड़ पर बैठी चिड़िया, और उसकी आंख !" कहा - "दुर्योधन ! धनुष-बाण रख दो।"

"भीम। तुम क्या देखते हो ? भीम से पूछा गुरूदेव ने कहा - "गुरूदेव

में तो दुर्योधन से भी ज्यादा देख रहा हूँ ! मुझे पेड़ चिड़िया, तो सब दिख ही रही है, घर में रसोई में रखा बढ़िया खाना, वह भी दिख रहा है।" कहा- "भीम। तुम भी धनुष बाण रख दो।"

"अर्जुन तुम क्या देख रहे हो ?" अर्जुन ने कहा - "गुरूदेव-मुझे सिर्फ काली पुतली ही दिख रही है।" पूछा - "आंख नहीं दिखती ?" कहा - नहीं।" पूछा "चिड़िया?" "वह भी नहीं दिखती। सिर्फ पुतली देख पाता हूँ।"

आचार्य ने कहा "बाण चलाओ अर्जुन।"

और बाण चिड़िया की पुतली को बींध गया। लक्ष्य पाया।

जो एक दन्त नहीं, जिसके जीवन में लक्ष्य के प्रति एक एकाग्रता नहीं, वे कभी भी सफलताओं को, उनकी पूर्णता एवं व्यापकता में, प्राप्त नहीं होते। उनकी हार होती है और उनकी हर प्राप्ति अपूर्ण और अतृप्त हुआ करती है। विनायक की मस्ती हो, और हम एक दन्त हो।

महाभारत की कथा है। स्वर्गारोहण को चले हैं-पांचो पाण्डव, साथ में द्रोपदी। लड़खड़ाते कदम सहदेव गया। फिर नकुल भी बर्फ में समा गये। न चल पाये। लड़खड़ाती द्रोपदी कभी अर्जुन का सहारा लेती, कभी भीम का। फिर वह भी दम तोड़ गयी, न चल पायी। अर्जुन भी लड़खड़ाये, और उसी बर्फ में चिर निद्रा में समाधिस्थ हो गये। भीम भी जाता रहा। सिर्फ बढ़ता चला, एक युधिष्ठिर और साथ में एक कुत्ता। कुत्ता क्यों ?

यहां पर भी प्रतीकात्मक भाषा में हमकों हमारा ही सत्य दर्शाया गया है। क्यों? क्योंकि हमारी भाषा प्रतीकात्मक भाषा है। प्रतीकों के बिना हम कुछ भी तो ग्रहण नहीं करते। "वह चांद सी सुन्दर है।" चांद में तो गढ्ढ़े हैं। फिर प्रतीकात्मक भाषा में चाँद सा दिखता जो सौन्दर्य है, उसकी उपमा दी गयी है। उपमाओं के बिना हमारी कोई भी अभिव्यक्ति नहीं।

कुत्ते में एक विशेषता है। वह "एक-मालिक" का है। यदि वह मालिक को मानता है तो वह मालिकन को भी नहीं मानता। मालिक के स्तर पर "एक मालिक का कुत्ता ।" दूसरी विशेषता में क्या है ? वह सोते में भी सावधान है । थोड़ी सी आहट मिलते ही,वह अपने मालिक के हित में भौकने लगता है । अर्थात् जो एक अराध्य का है,और असावधानी में भी जिसके जीवन का लक्ष्य, एक दन्त नहीं छूट पाता। सदा, सोते-जागते, उठते-बैठते वह सदा अपने जीवन के उस लक्ष्य पर आरूढ़ रहता है। वही तो युधिष्ठिर सा स्वर्गारोहरण करेगा। इसीलिए भक्त, भगवान-विनायक के एक दन्त श्री मुख की आत्मविभोर होकर स्तुति करते हैं।

दृष्टि सम है। हाथी की आंख, विषम-भाव को अधिक देर तक ग्रहण कर

नहीं पाती। जिसकी दृष्टि सम है, अर्थात् जो किसी में भेदभाव नहीं देखता, वही तो पावन स्वरूप भगवान विनायक गणपति का है। दृष्टि सम किसकी होती है ? जो ''बौद्धिक परिपक्वता को प्राप्त होगा।''

एक उदाहरण दे रहा हूँ आपको। एक कथा सुनाता हूँ आपको। एक जंगल में, जंगली लोग रहते थे। पीढ़ी दर पीढ़ी वे कभी शहर नहीं गये थे। एक बार उन्हीं का वंशज, एक नौजवान ने सोचा, ''देखा तो जाए शहर कैसा होता है?'' रात को डरा, सहमा, लुकता, छिपता वह शहर गया। जब मुहल्ले में प्रवेश पाया तो भौचक्का सा देख रहा है। चारों तरफ घरों में से, खिड़की के शीशों में से, रोशनी छन-छनकर बाहर आ रही है। अज्ञानी था वह। जानता नहीं था। उसने समझा कि यह कांच ही चमक रहे हैं। जो दूर-दूर तक रोशनी फेंक रहें हैं। लाओं, क्यो न हो, मैं एक कांच ही तोड़कर भाग जाऊँ।

ऐसा विचार करके वह जंगली उस कांच के शीशे को तोड़कर भाग खड़ा हुआ। रात में जब उसने जंगल में देखा तो उस कांच में से कोई रोशनी न दिखी। उसने सोचा या तो मेरे तोड़ने में गलती हो गयी थी अथवा मैं गलत शीशा तोड़ लाया। इसकी रोशनी क्यों जाती रही ? मैं गलत शीशा जल्दबाजी में तोड़ लाया। चलो अब दूसरा तोड़ लायें। ऐसा सोचकर रोजाना एक शीशा तोड़ ले जाता खिड़की से। लेकिन रात में उस कांच से कुछ भी रोशनी प्रकट नहीं होती। इधर मोहल्ले के लोग भी परेशान हो गये। कौन हमारे खिड़कियों के शीशों को तोड़ रहा है ? घात लगाकर उस जंगली को, एक रात पकड़ लिया। पूछा ''क्यों रे तू हमारी खिड़कियों के शीशे क्यों तोड़ता है?'' उसने उत्तर दिया, ''खिड़कियों के शीशे मैं तोड़ता तो हूँ यह सही बात है। लेकिन मुझको एक बात बताओ, तुम्हारे यहां तो चमकते हैं। दूर-दूर तक रोशनी फेंकते हैं, मेरे जंगल में ये क्यों नहीं चकमते हैं?'' उन्होंने कहा,? ''रे पागल। यहां आओ, मेरे साथ!'' उन्होंने उसको हर घर कमरों में झांकने को कहा और कहा, यह छत पर जो टंगा बल्ब हैं वह चमकता है। उसी की रोशनी है, जो कांच से छन-छन कर बाहर आती है। न कि रोशनी शीशे में से निकलती है।''

विनायक की कथा में जो भगवान विनायक का स्वरूप है, वह इस जंगली की कथा से स्पष्ट होता है। कमरे में बल्ब जगमगा रहा था। हमारी बौद्धिक अपरिपक्वता, केवल खिड़कियों और दरवाजों तक सीमित थी। हर कमरे में बल्ब वही जगमगा रहा था। हमने सिर्फ खिड़कियों से रिश्तेदारी की। दीवारों तक हम सीमित रहे। आत्मा होकर, भगवान नारायण ही, आत्मा रूपी बल्ब ही हर देह में जगमगा रहा है। हमने सोचा, उसकी आंखों में रोशनी है। हमने जाना, उसके चेहरे

पर चमक है। जिस दिन वह बल्ब आत्मा निकल गया। न मुर्दा आंखों में रोशनी थी। न चेहरे पर चमक।

उस जंगली की कथा को सुनकर हम सब मुस्करा दिये थे। कितना मूर्ख था वह। खाली शीशों की बात करता रहा। शीशों की रोशनी समझता रहा। काश! हम सोचते कितने अज्ञानी हैं हम। सिर्फ दीवारों तक रहे। अभेद होकर, आत्मा रूपी बल्ब एक था। आत्मा होकर सबमें सम्यूक भाव से जगमगाता रहा। काश ! हमारी दृष्टि, हे पावन! हे पुनीत विनायक ! तुम्हारी तरह सम हो पाती ! भेदभाव से, घृणा के इस जगत से, अन्याय से हम ऊपर उठ, उस एक सत्य में, उस एक बल्ब के प्रकाश में हम खो जाते सदा-सदा के लिये। हर लक्ष्य सिद्ध होता। जीवन को एक बहुत ही सुखद ठहराव मिल जाता। हे विनायक । वही तो हम भक्त तुम्हारी पूजा करते है। हर शुभ कार्य से पूर्व, हे बुद्धिमतां। हे बौद्धिक परिपक्वता के प्रतिबिम्ब, प्रतीक। हमें भी बौद्धिक पुष्टता को प्राप्त कराओ, कि हम भी एक अभियान का आवाहन कर बैठे हैं।

एक और विशेषता होती है गणपति के श्रीमुख में। हाथी की जो जीभ है, वह भीतर को घूमती है। अन्तरमुखी होती है। यह जीवन का बीज मंत्र है। हम वाणी का प्रयोग सिर्फ बाहर के लिये करते हैं। यदि सतसंग भी सुनते हैं। कथाएं भी पढ़ते हैं, तो गली चौराहों पर दूसरों को उपदेश दिया करते हैं। हमारी वाणी सदा बहिर्मुखी होती है। जबकि वाणी माँ सरस्वती का दूसरा नाम है। काश ! जीभ हमारी भी भीतर को झुक जाये। हम वाणी को, जिह्हा को, केवल बाहर ही रखते हैं। भीतर को नहीं आने देते हैं। जबकि हाथी अपनी जीभ को भीतर रखता है।

आप कल्पना करें - कि आप शतरंज खेल रहे हैं, शतरंज की फड़ लगी हुई है उस पर लकड़ी के मोहरें हैं। उन मोहरों को जिसमें लकड़ी का हाथी भी है, घोड़ा भी है, वजीर भी है, पैदल है, राजा है आदि-आदि। दो खिलाड़ी खेल रहे हैं, आमने सामने बैठकर। मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ कि क्या खिलाड़ी कह सकता है, "यह मोहरा गलत चल गया। इसलिए मैं हार गया?" हाँ ! अगर मोहरे जीवन्त हो उठे और उनमें बोलने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाय तो मोहरा तो कह सकता है कि खिलाड़ी का हाथ मुझे गलत चल गया और मैं फड़ से उतार दिया गया। दुश्मन के हाथों मारा गया। लेकिन खिलाड़ी कैसे कह सकता है कि मोहरा गलत चल गया? दोष उस खिलाड़ी का है। तो मित्र ! जब तक तुम दूसरों को दोष दे रहे थे। उनके कारण मुझे दुख हुआ, उनके कारण मैं हारा, उनके कारण मुझे ये पीड़ायें प्राप्त हुई, जब तक तुम दूसरों के प्रति शिकायत कर रहे थे तुम मोहरा ही तो थे। तभी तो वह खिलाड़ी की तरह खेल सका था।

याद रखो जब भी तुम मोहरा हो, संसार खिलाड़ी है। सब तुम को खेलेंगे। जीवन में तुम कुछ भी नहीं पाओगे। आँधी में पड़े पीपल के टूटे पत्ते की तरह लड़खड़ाते फड़फड़ाते फिरोगे। जिस दिन तुमने, अपना दोष देखना शुरु कर दिया, उस दिन तुम खिलाड़ी हो, क्योंकि तुम अपने दोष स्वयं देखने लगे हो। जीभ भीतर को चली गयी है, संसार मोहरा है। याद रहे, जब तुम खिलाड़ी हो, संसार मोहरा है। जिस दिन दूसरों को दोष देने लगोगे, तुम मात्र मोहरा हो संसार खिलाड़ी है। प्रत्येक हाथ खेलेगा तुमको ? तुम्हें कभी सुख नहीं होगा। तुम कभी विनायक को नहीं पाओगे। इसीलिए हाथी की जीभ सदा अंतर्मुखी होती है, भीतर को घूमती है। आज सनातन वाणी जिस प्रवचन माला का आरम्भ कर रही है। विनायक हम पर दया करें। हम पर कृपा करे। यह प्रवचन माला का अमृत, हमारी जिह्वा, भीतर हमको पिलायें। हम उसे पी जायें। यज्ञ की ज्वालाओं में, जो शाकल्य, सामग्रीवत गिरता है, आपूर्ति बनता है-वही ज्योति बनकर ऊपर उठता है ! सनातन वाणी रूपी, इस सत्य रूपी, यज्ञ में भी जो अर्पित होगा, वही तो ज्योति बनकर ऊपर उठेगा। हम इस अमृतमय ज्ञान को, जिह्वा के द्वारा भीतर ले जायें। पियें और गणपति की उस व्यापकता को अपनी जीवन में उतार पायें। हम ऐसे अद्‌भुत सौभाग्य को प्राप्त करें। भगवान विनायक की हम इस कार्य के शुभारम्भ में स्तुति करें। भगवान विनायक हमारे साथ हों। वे हमारे ऊपर कृपा करें।

भगवना गणपति की विलक्षणताओं में और भी एक विलक्षण बात है। विनायक की सवारी चूहा है। चूहा सवारी है उनकी। आप कहेंगे कि आज जब हम हवाई जहाज पर उड़ने लगे। सुपरसोनिक प्लेन, आवाज की गति से भी तेज चलने लगे और स्पेस शटलस पर बैठकर, स्पेस-अर्थात् क्षीर सागर, की ओर भी हम जाने लगे, उस समय हमें बैलगाड़ी पर भी नहीं, चूहे, पर बैठा रहे हैं ? भला यह भी कोई बात है ? यहां आपको एक कथा सुनाना चाहूँगा :-

भगवान गणपति के भ्राता हैं भगवान कार्तिकेय। शिव पुत्र हैं। एक बार भगवान कार्तिकेय और भगवान गणपति में होड़ लगी है कि हम दोनों में सबसे पहले कौन धरती की परिक्रमा करेगा ? कार्तिकेय का वाहन मोर है। वे मोर पर बैठकर धरती की परिक्रमा करने लगे। गणपति का वाहन चूहा है। वे चूहे पर बैठकर उससे पूर्व शिव और पार्वती की परिक्रमा पूरी करके आ गये। कहा कि कार्तिकेय से पहले ही मैंने परिक्रमा को पूर्ण किया। मेरी जीत हुई। क्योंकि माता-पिता अथवा गुरू की परिक्रमा सारे सचराचर एवं सारे ब्रम्हाण्डों की परिक्रमा है। जब कार्तिकेय जी लौटकर आये। उन्होंने देखा कि विजय फल गणपति के हाथ में है। उन्होंने भगवान रुद्र से कहा, ''यह तो कहीं गया भी नहीं और आपने इसके हाथ में फल दे दिया?''

महा शिव ने उत्तर में कहा ''सारे ब्रह्माण्ड का जो सबसे छोटा रूप है, वह तुम स्वयं हो। ईश्वर ने जो किताब लिखी वह जीवन्त पुस्तक है। सम्पूर्ण वेदों आदि से भी ऊपर ! जिन्हें वेदों ने, श्रुतियों ने भी गाया है। ''पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यते'' अर्थात् इस प्रकृति को देखो, इस कुदरत को देखो। यही ईश्वर का लिखा अद्‌भुत ग्रन्थ है। जिसे वे आज भी प्रभु आत्मा होकर लिख रहे हैं। हम उसका एक अक्षर ही तो हैं। जो व्यक्ति है। वही समाज है। वही राष्ट्र है। और जो व्यक्ति है वही सचराचर है। हर अक्षर अपने में पूर्ण है। गणपति ने अर्न्तमुखी हो, पार्वती-शिव को अपने हृदय में उतार कर, बंदन कर परिक्रमाओं को प्राप्त हो गया। गणपति विजयी रहा।''

आज के सन्दर्भों में भी भगवान विनायक की यह कथा बहुत ही सार्थक और अमृतमय है। कार्तिकेय ने कहा - ''मेरा वाहन मोर है।'' इस कथा का दूसरा जो प्रतीकात्मक, उपमात्मक रूप है उसको ले रहे हैं। कार्तिकेय ने कहा, ''मेरा वाहन मोर है, मैं पहला सत्य की राह पर जाने वाला मार्गदर्शह हूँ। क्योंकि मेरा वाहन मोर है।'' गणपति ने कहा, ''नहीं तुझसे पूर्व मैं हूँ। मेरा वाहन चूहा।'' तो कार्तिवेय ने पूछा ''मोर और चूहे की क्या समानता हो सकती है?'' गणपति ने कहा ''तुम मोर, जो तुम्हारा वाहन अर्थात् जीवन का अभियान (जीवन का उद्‌देश्य ही तो वाहन है) उसे स्पष्ट करो?'' कार्तिकेय ने कहा, ''मेरा वाहन मोर है। मोर की विशेषता है कि वह हर विषैले जन्तुओं को खाता है। विषय का पान करता है। मेरा वाहन मोर है अर्थात् मैने सारे समाज का विष पी लिया। उनके असत्य एवं अज्ञान को स्वयं ग्रहण करना एवं उन्हें आनन्द की अनुभूति, मोर जो नृत्य के द्वारा सबको आनन्दित करता है, मेररी ऐसी सुखद अनुभूति सबको देना मेरा वाहन है। अर्थात् यह मेरे जीवन का मार्ग है! अभियान है ! मिशन है ? उद्‌देश्य है ! मेरा वाहन मोर है इसलिए सत्य मेरी ही ओर है। विजय मेरी ही मानी जानी चाहिए। पहला मार्गी मैं ही कहलाऊँगा।''

गणपति ने कहा - ''नहीं, तुम नहीं, तुमसे पूर्व मेरा ही मार्ग सत्य है। क्योंकि मेरा वाहन, मिशन, उद्‌देश्य अभियान चूहा है।'' पूछा ''चूहे से तुम्हारा तात्पर्य क्या है ?'' गणपति ने कहा - चूहा हर रस्सी को काट देता है और जहां बैठता है वही बिल खोदता है। बाहर की हर वासनात्मक रस्मियों को काट अपने भीतर बिल खोदने चला। यह मेरा मार्ग है। यही सत्य की राह है। अपने आपको जानना, पहचानना, वाणी को भीतर ले जाना दृष्टि को समय करना, हाथी की मस्ती को प्राप्त हो, स्थितिप्रज्ञ हो, अपने जीवन के सत्य तक पहुंच पाना, यह मेरा वाहन है, जो चूहा है।''

कार्तिकेय ने कहा ' ''यह तुम्हारी एक व्यक्तिगत उपलब्धि हो सकती है, गणपित। लेकिन तुमने सचराचर की सेवा क्या की ? तुमने दूसरों का असत्य, अज्ञान रूपी विष का पान करके उन्हें सौन्दर्य, सुख की अनुभूति भी तो नहीं दी ? तुम्हारा मार्ग अपूर्ण है।''

गणपति ने कहा, ''मेरा ही मार्ग पूर्ण है। जब तक मैं स्वयं को नहीं जानूँगा, जब तक मैं अपने आप को नहीं पहचानूँगा, मैं दूसरों की सेवा भी क्या करूँगा ? जिसका वाहन चूहा नहीं, जिसने असत्य एवं अज्ञान की रस्सियों को काटकर, अपने अन्तर को बींधा नहीं। जो अपने अन्तर में बैठ नहीं पाया। जो भीतर बैठकर सचराचर का दर्शन नहीं कर पाया। कार्तिकेय ! उसकी मोर की कल्पना भी तो अधूरी है। यदि मैं डाक्टर ही नहीं बन पाया, तो रोग का निदान क्या कर पाऊँगा? उल्टा उस मरीज (रोगियों) को मार ही दूंगा। इसलिए स्वयें को जानना, जीवन का पहला उद्देश्य है! इसलिए विजय मेरी ही होगी।।''

कार्तिकेय ने कहा - स्वयं को जानने की प्रतिक्रिया में हो सकता है तुम्हें हजारों वर्ष लग जायें ? तो संसार तो प्यासा रहेगा ? तेरी सेवाओं के बिना।

गणपति भगवान ने कहा 'जो आज मर रहे है ! वे कल क्या उत्पन्न नहीं होंगे ? कार्तिकेय ! जब तक मैं अपने आपको नहीं जानता मैं दूसरों को क्या जानूंगा? और जब तक संशय रहित होकर अपने आपको नहीं जान पाया। मेरी सचराचर सेवा मेरा एक मिथ्याभिमान ही तो है। मैं तुम्हारी बात नहीं स्वीकारता हूँ। सत्य का पहला चरण, जीवन की राह का कुँवारा कदम, जो पहला होगा, वह बाहर नहीं, भीतर होगा। जितने कदम भीतर चलूँ उतने कदम बाहर भी आगे बढ़ूं। यह बात तो समझ में आती है। तुम कहो चूहा वाहन के बिना मोर की भी कोई उपयोगिता है, उसे मैं नहीं स्वीकारता। इसलिए प्रथम चरण जो भी होगा, ईश्वर की राह में वह गणपति ही होगा।

तब महाविष्णु प्रकट हुए। उन्होंने दोनों के मार्गों की सराहना की। गणपति के योग का, अपने आप को, जानने के मार्ग को (कृष्ण रूप में अवतरित होकर) अपने हृदय में रखा। जिसका अमृतमय उपदेश गीता में है, जो गणपति ही है। वह अर्जुन को दिया। कार्तिकेय के वाहन मोर को नारायण ने मोर पंख के रूप में माथे से लगा लिया कि ''मन में ध्यान, हाथ में सेवा।'' परन्तु संशय रहित रूप से यह भी स्पष्ट कर दिया कि गणपति ही प्रथम है। कार्तिकेय उपरान्ह होगा। क्योंकि स्वयं को जानने की प्रक्रिया में यदि समाज सेवा का विचार, दोनों इकट्ठे खड़े रहे तो एक दन्त न होने से, जीवन को कोई भी लक्ष्य, कोई भी स्तर तुम नही पाओगे।

हम भगवान विनायक की स्तुति करें। भगवान गणपति को जो विचारों की

पूर्णता के प्रतीक हैं और जो अन्तर का जगत है, उस सत्य को पाने के लिए हम एकाग्र होकर, समदृष्टि में अर्थात् उसी आत्मा रूपी, ब्रह्म रूपी उस बल्ब को सभी में देखते हुए भगवान विनायक को अपने इस अभियान का मुख्य आधार मानकर, जीवन को ही सनातन वाणी एक अभियान जानकर, हम अपने हृदय में धारण करें। यही भगवान विनायक का, निर्मल ज्योर्तिमय, अमृतमय स्वयप है। भगवान विनायक ने जब कहा था- "कि जब तक मैंने अपने आपको न जाना, मैं संसार की सेवा क्या करूँगा?" आज यही हमारे दुख और पीड़ा का मूल कारण है। जिन्होंने हमारे सद्ग्रंथ न जाने, एक हजार साल के लम्बे, गुलामी के अन्तरालों में, उन सत्य रूपी अंगारों पर, तथाकथित समाज सुधारक एवं नेताओं ने, तथातथिक विचारकों ने, जो भ्रम फैलाये हैं। काश ! "वे भगवान विनायक के स्वरूप को अपने जीवन में उतार पाये होते।"

सनातन शब्द का अर्थ है नित्य, अजर, अमर, अविनाशी, जो नित्य, अजर, अमर, अविनाशी है अर्थात् वे शब्द जो कभी मरते नहीं। वे शब्द जो सन्देह से परे हैं। जिनमें कभी किसी प्रकार का संशय नहीं होता। वे ही सनातन वाणी के रूप माने जाते हैं। उन्हीं का नाम सरस्वती है। भगवान विनायक की, गणपति की, पूजा के बाद हम माँ सरस्वती की और गुरू के पावन चरणों की पूजा करते हैं। गुरू-उसे कहते हैं, जो जीवन के गुरुत्व को धारण कराने वाले, सत्य को, धारण करा दें।

आचार्य और गुरू में भेद होता है। आचार्य कहते है, जो श्रेष्ठ आचरण को दे। भीतर और बाहर के। वे पावन आचार्य है। गुरू कहते हैं जो अन्तर के तम को मिटा असत्य-अज्ञान को नष्ट कर, सत्य की राह दें। जो ईश्वर की राह में मेरे संकल्प का संबल हो जाय। जिसके प्रति समर्पित होकर, मैं सबसे पहले समर्पित होना सीखूँ। वे पावन गुरू-जन, आंखों की रोशनी बने। अन्तर की ज्योर्तिमय राह का पालन करायें! हम ऐसे गुरूजन के चरणों में नत मस्तक हों। उनकी स्तुति गावें-कि वह हम पर कृपा, हम पर दया करे। हमें शक्ति तथा साहस दें और जो गूढ़ ब्रम्ह के रहस्य हैं, उन्हें अपनी पावन सनातन सरस्वती के द्वारा, हम पर स्पष्ट करते चलें। समर्पण ही जीवन का मूल है। जब तक हम समर्पित नहीं हो पाते, हम कुछ भी नहीं पाते। जिस अभियान को हम समर्पित नहीं। हम उन उद्‌देश्यों के साथ तद्रूप (आईडेण्टीफाई) भी नहीं कर पाते। जान भी नहीं पाते। वह समर्पण जब तक अधूरा रहता है, हमें किसी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। अक्सर लोग सोचते समर्पण का अर्थ, हीन भावनाओं से ग्रसित होना है। नहीं ! जो पेड़ झुकते नहीं, वे आंधियों के द्वाराा उखाड़ दिये जाते हैं। जो पेड़ अपने फलों के संग झुकते नहीं,

वे उनके फल नष्ट हो जाते हैं। झुकना तो एक प्रक्रिया है। आप किसी के आगे नहीं, आप अपने ही अन्तर में झुक रहें हैं। जैसे नाटक के पूर्व का पूर्वाभ्यास होत है। झुक वही सकता है जो अब कांच नहीं, खिड़की के शीशे नहीं, उस ब्रम्ह रूपी बल्ब को देख रहा है। वही झुक सकता है।

महाविष्णु चतुर्भुज है। उनकी चारों भुजाओं में शंख, चक्रक, गदा और पद्म हैं। यही किसी भी अभियान पर जा रहे, सत्य को पाने के पिपासु के चार शुभ लक्षण हैं। शंख के सदृश्य मंगलमय वाणी जिसकी ! दृष्टि जिसकी सुदर्शन है ! संकल्प जिसका गदा है और जो कमल की कोमलता लिए, प्राणी-मात्र के चरणों में समर्पित हो गया है। महाविष्णु कहते हैं मेरा भक्त है।

भगवान-विनायक और हमारे पावन गुरू हम पर दया करें ! हम पर कृपा करें। विनायक की स्तुति के बाद, तुलसीकृत मानस में भी, भगवान तुलसी, गुरू के चरण-पद-कमल की पूजा करते हैं। जब तक मेरे जीवन में आदर्श नहीं होगा, मैं अपने आपको तद्रूप (आईडेण्टीफाई) किससे करूँगा ? जब मैं अपने आपको जगत से तद्रूप (आईडेण्टीफाई) करता हूँ, तदात्म करता हूँ, तो हर टूटे खिलौने के साथ मैं टूटता रहता हूँ। गुरू अथवा भगवान की पूजा, मूर्ति की पूजा में भी, हम किसी की पूजा नहीं, विचारों के द्वारा अपने में एक नया व्यक्तित्व उत्पन्न करने की उस महान मनोवैज्ञानिक कल्पना को ही साकार करते हैं।

आप कल्पना करें, कि आप एक विशाल पर्वत के सामने खड़े हैं। पर्वत बहुत ऊँचा है, आप बहुत छोटे हैं। फिर आप रस्सी फेंककर, उस पहाड़ पर चढ़ने लगते हैं। पर्वतारोहण करने लगते हैं। एक समय वह भी आता है कि आप उस पर्वत से भी ऊँचे हैं। क्यों ? उसकी सबसे ऊँची चोटी के ऊपर खड़े हुए हैं। गुरू, ईश्वर एवं मूर्ति के रूप में विचारों का सद्विचारों का उन्नत विचारों का, एक विशाल पर्वत खड़ा करता हूँ। समर्पण की रस्सी से सद्विचारों रूपी उस गुरू, उस पर्वत पर, धीरे-धीरे चढ़ने लगता हूँ। अच्छी भावनाएँ, सुदृढ़ संकल्प, महान प्रेरणायें और कल्पनायें, मेरे व्यक्तित्व को, पर्वताकार तद्रूप बनाती चलती हैं। यही गुरू के पावन चरणों की कृपा है। उनके पावन चरणों में जब हम झुकते हैं तो हम कांच की खिड़कियों के आगे नहीं, कमरे के उस बल्ब के आगे हम झुकते हैं और विचारों के उस विशाल पर्वत को "शंख के सदृश्य मंगलमय वाणी, दृष्टि का सुदर्शन, सु-अलौकिक, दृश्य का सब में दर्शन ! संकल्प की गदा गुरू ही बनते हैं। क्योंकि कई बार मेरी लिप्सायें एवं वासनायें मुझ अबोध अज्ञानी को, जगत में संकल्पहीन बनाकर लौटा ले जाती हैं। परन्तु जितना पुष्ट समर्पण का भाव गुरू की ओर होगा, तो उसके आदेश और उपदेश की मैं अवहेलना नहीं कर सकता। क्योंकि गुरू का

आदेश है - यह संकल्प की गदा बन जाता है। तो अज्ञान एवं अबोधता के स्तर पर खड़ा भक्त भी संकल्प की पुष्ट गदा पर सद्विचारों के उस ज्योर्तिमय उन्नत, आलोकित पर्वत पर चढ़, उस पर्वत से भी ऊँचा, अपने व्यक्तित्व को बना ले जाता है।

अध्याय – ४

तन एक मन्दिर

अतीत की शिक्षा में मन्दिर का बहुत बड़ा महत्व रहा है। मन्दिर की कल्पना जो हमें "ऋग्वेद" में भी मिलती है।

"वील्लु विदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वहिनिभः।
अविन्द उस्रिया अनु।।"

उपरोक्त ऋचा में मन्दिर मनुष्य के दर्पण के रूप में प्रदर्शित किया गया है। यथा-पल्थी के जैसा चबूतरा। शरीर (धड़) के जैसा मन्दिर का गोल कमरा, मनुष्य के सिर के जैसा मन्दिर का ऊपरी गोल गुम्बद तथा जटाओं के जूड़े जैसा गुम्बद के ऊपर का कलश। आत्मा जैसी प्राण प्रतिष्ठित मूर्ति तथा पुजारी के जैसा जीव, स्वयं मन्दिर के रूप में बिम्बित होता है। क्योंकि शिक्षा का केन्द्र छात्र स्वयं है, इसीलिए मन्दिर, मूर्ति तथा पुजारी उसके निज स्वरूप का सर्वांग दर्शन हैं। गुरूकुल शिक्षा में मन्दिर का अति विशिष्ट स्थान रहा है। सामाजिक, सामूहिक तथा पारिवारिक पवित्रता और सार्थक जीवन का हेतु भी मन्दिर ही रहा है। मन्दिर में छात्र अपने इस देह रूपी देवालय को पहचानता था। मूर्ति में अपनी ही अन्तरात्मा अनन्त का आभास लेता था। तथा पुजारी के रूप में वह अपने जीव स्वरूप को ग्रहण करता था।

आज भी शिक्षा में छोटे बालक को प्रतीकों के माध्यम से अक्षर ज्ञान कराने की परम्परा है यथा = "अ" से "अनार"। "ब" से "बन्दर" आदि। अतीत की शिक्षा ने भी मन्दिर को जीवन के अक्षर ज्ञान के रूप में प्रतीकात्मक स्वीकार किया। अतीत की शिक्षा में एक विलक्षणता ये भी देखने में आती है कि छात्र द्वारा निर्णय की बौद्धिकता पर ऋषि कभी भी आदेश के कोड़े नहीं मारते थे। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि शिक्षक एक अच्छा वकील है और वह एक अच्छे वकील की तरह छात्र के सम्मुख तथ्य और प्रमाण रखे, तथा छात्र एक 'जज' की तरह स्वयं निर्णय करे। उस पर विचारों को कदापि थोपा न जाए। उसे अवसर दिया जाय, कि वह स्वयं निर्णय करे। मन्दिर को शिक्षा का एक संक्षिप्त स्वरूप आपके सामने रखते हैं।

गुरूकुल में बालक को लेकर गुरू सबसे पहले उन्हें मन्दिर में लातें हैं। इस मन्दिर से उन बच्चों का उससे पूर्व परिचय भी है। अपने गांव में उन्होंने इन्हीं मन्दिरों के दर्शन किये हैं। अपने माता-पिता के साथ वह नित्य-प्रति पूजा के लिए

जाते रहे हैं। बाल्यपन से ही वह मन्दिर को पूजा का स्थल तथा भगवान का घर जानते हैं। गुरूकुल के मन्दिर को देखकर उन्हें कोई आश्चर्य नहीं होता। परन्तु मन्दिर से पहला परिचय उनका गुरूकुल में ही होता है। मन्दिर में ऋषि उनको लेकर जाते हैं और वे बच्चों को मन्दिर का परिचय देते हैं।

प्यारे बच्चों ये मन्दिर तुम्हारी ही तस्वीर है। जैसे तुम ध्यान में पल्थी लगाकर बैठते हो, वैसे ही हम इस मन्दिर का चबूतरा बनाते हैं। तुम्हारे शरीर के अर्थात् कबन्ध (धड़) के जैसा गोल कमरा मन्दिर का बनाया है। जैसे तुम्हारे इस कबन्ध (धड़) के ऊपर तुम्हारा सिर है, वैसे ही हमने मन्दिर के ऊपर गुम्बद लगाया है। तुम्हारे सिर के ऊपर जूड़े के जैसा ही उस पर कलश सजा दिया है।

प्यारे बच्चों परमेश्वर ही घट-घट वासी आत्मा होकर सचराचर में व्याप्त होते हैं। वह ही इस शरीर की रक्षा करता है। भोजन जो तुम ग्रहण करते हो उसे आत्मा होकर भगवान ही भोजन को रक्त, शक्ति और तेज में प्रकट करते हैं। जिसको विस्तार के साथ हम तुमको यज्ञशाला में पढ़ाएगें। आत्मा के रूप में, मन्दिर क़ी मूर्ति है, तथा जीव के रूप में मन्दिर का पुजारी रूप में तुम स्वयं देख रहे हो। इस प्रकार ये मन्दिर तुम्हारा ही दर्पण है। एक ऐसा दर्पण है जो तुम्हें तुम्हारा सर्वांग परिचय कराता है। इस मन्दिर को बहुत ध्यान से देखो तथा आज इसके सामने हम उससे पाठ पढ़ेंगे, जो हम स्वयं हैं। गुरूकुल की शिक्षा का पहला धर्म है कि हम सब स्वयं को जानें। अपने प्रति अधिक ईमानदार हों तथा हमको बनाने वाले ईश्वर हैं, उनके प्रति ईमानदार और आस्थावान हों। इस मन्दिर के सामने मैं तुम सबसे कुछ प्रश्न पूछना चाहूँगा जिनका तुम सबको उत्तर देना होगा।

मन्दिर का स्वामी सदा प्राण प्रतिष्ठित मूर्ति में निहित होता है। पुजारी मन्दिर में एक निमित्त (ट्रस्टी), एक सेवक होता है। उसी प्रकार तुम्हारे इस शरीर का स्वामित्व किसके पास है ? थोड़ा सा विचार करें, कि तुम्हारे शरीर का स्वामित्व आत्मा के पास है। जो आज भी इस शरीर को बना रही है, तथा पूर्व में भी आत्मा ने ही इस शरीर की संरचना की है। स्वामित्व आत्मा के पास है, अथवा जीव होकर तुम इस शरीर के स्वामी हो ? निर्णय से पूर्व वस्तु स्थिति पर भी विचार करें, कि जिस हाथ का तुम प्रयोग कर रहे हो, क्या उसके किसी हिस्से को तुम बना सकते हो ? तुम्हारे इस शरीर रूपी मन्दिर का मालिक आत्मा होकर स्वयं भगवान है अथवा जीव होकर तुम ?

बालक गम्भीर हो उठते हैं अथवा उनका उत्तर होता :-

"शरीर का स्वामित्व तो उसके बनाने वाले को ही होना चाहिए। इस शरीर का प्रयोग करने वाला एक निमित्त ही हो सकता है। इसलिए शरीर का

स्वामित्व आत्मा को ही है हमारे शरीर के हम सब निमित्त पुजारी है।"

तब ऋषि उन्हें विस्तार से समझाते। "जब इस शरीर के तुम मालिक नहीं, तो इससे जुड़ा सारा संसार तुम्हारा कहां ?" इसलिए बच्चों सदा निमित्त की भावना से जीना। जो कुछ भी है वह सब कुछ हम सबको बनाने वाले परमेश्वर का है। हम सब यहां पर एक निमित्त कर्तव्य के लिए ही प्रकट किये गये हैं। शरीर पर भी हमारा एक निमित्त भक्त का भाव होना चाहिए। ये शरीर उसी का है, जिसने इसको बनाया है। इसलिए हमें अपने शरीर को परमेश्वर की पवित्र धरोहर के रूप में ग्रहण करना चाहिए। सम्पूर्ण सचराचर को आत्मा होकर स्वयं प्रभु ही प्रकट कर रहें हैं। इसलिए सम्पूर्ण सरचराचर परमेश्वर की धरोहर है। सब में एक निमित्त का भाव रखते हुए जीना ही अपने जीवन में मन्दिर को प्रतिष्ठित करना है।"

ऋषि पुनः उन्हें मन्दिर का उपदेश करते हुए पूछते हैं। "क्या तुम इस मन्दिर में अपवित्र होकर आ सकते हो ? मन्दिर में बैठकर क्या तुम लोग अभ्रद व्यवहार कर सकते हो ?

बालक उत्तर देते। "मन्दिर में हम ऐसा कदापि नहीं कर सकते। ये तो भगवान का पवित्र मन्दिर है। इसकी पवित्रता को बनाये रखना प्रत्येक भक्त का परम कर्तव्य हैं मन्दिर में सदा पवित्र होकर ही आना चाहिये। तथा भद्र व्यवहार ही करना चाहिये।

तब ऋषि उन्हें समझाते। "प्यारे बच्चों इस मन्दिर का निर्माण राज और मजदूरों के साथ हमने किया है। परन्तु तुम्हारा शरीर एक ऐसा दिव्य मन्दिर है, जिसकी प्रत्येक ईट, प्रत्येक दीवार, स्वयं भगवान आत्मा होकर लगाते हैं। जब हमारे बनाये मन्दिर में, तुम अपवित्र और अभद्र नहीं हो सकते तो ईश्वर द्वारा बनाए हुए इस शरीर रूपी देवालय में तुम्हारा अपवित्र होना और अभद्र होना, क्या अनुचित नहीं होगा? जो काम मन्दिर और मूर्ति के सामने नहीं हो सकता, वह साक्षात् आत्मा परमेश्वर तथा उसके बनाए उस शरीर रूपी देवालय में ये जीव कैसे कर सकता है?

बालक गम्भीरतापूर्वक मनन करते गुरू के वचन उनके अंतर्मन में उतर आते और वे स्वयं निर्णय देता :- जो मन्दिर में नहीं हो सकता वह शरीर में तो कदापि नहीं हो सकता।"

ऋषि मन्दिर के माध्यम से उन्हें पुनः उपदेश करते। "जिस प्रकार पुजारी भगवान की मूर्ति को भोग लगाता है। पवित्र भोजन को भोग के रूप में, मन्दिर में भगवान की मूर्ति के सामने रखता है। उसी प्रकार तुमने भी जो भोजन ग्रहण किया उसे भोग के रूप में अपनी ही आत्मा ईश्वर को ही तो दिया। आत्मा ही तो

भोजन को शरीर में, रक्त में शक्ति में, तेज में तथा जीवन में लौटाती है। जैसे पुजारी मन्दिर में मूर्ति को भोग लगाता हैं वैसे जो भोजन तुम ग्रहण करते हो, वह आत्मा को ब्रह्मार्पण ही तो होता है। भगवान की मूर्ति पर पुजारी सदा ही पवित्र भोजन चढ़ाता है। "नारायण की मूर्ति पर शराब, मांस, तम्बाकू, अण्डा ऐसे पदार्थ कभी नहीं चढ़ाये जाते। ईश्वर की मूर्ति पर इन सबको चढ़ाना महा पाप है। विचार करें जो पदार्थ भगवान की मूर्ति पर नहीं चढ़ाये जा सकते उन्हीं को भोजन के रूप में कैसे ग्रहण किया जा सकता है ? क्या ये अनुचित नहीं होगा तथा पाप समान नहीं होगा ?

बालक पुनः गम्भीर विचार करते हुए निर्णय लेते कि जो भगवान की मूर्ति पर, तस्वीर पर नहीं चढ़ाया जा सकता उसे साक्षात् आत्मा को देना एक जघन्य अपराध है तथा अपने प्रति किया गया विश्वासघात है। निर्णय सदा बालक ही करते हैं। चूंकि बालक स्वयं निर्णय कर रहें हैं इसलिए ये निर्णय उनके जीवन में उनका अपना निर्णय होने से कभी भी टूटता नहीं। स्वयं लिया गया निर्णय भुजाओं की भांति शरीर का एक अंग होता है। जिसे कोई काटकर अलग नहीं कर सकता है। जैसे हाथ शरीर से अलग नहीं होता उसी प्रकार कोमल मस्तिष्क के द्वारा लिया निर्णय उससे अलग नहीं किया जा सकता। जबकि दूसरों के द्वारा थोपे हुए निर्णय, पहने हुए कपड़ो की भांति ही होते हैं। जिसे बालक एकांत पाकर सदा उतार फेंक सकते हैं। पूर्ण मनोवैज्ञानिक "सनातन धर्म" के ऋषि इस सत्य को जानते हैं। इसीलिए वे सभी शिक्षाओं में सतत् प्रयत्नशील रहते हैं कि निर्णय बालक स्वयं करें।

ऋषि पुनः मन्दिर की ओर बालकों को संकेत करते हुए कहते, "मन्दिर में भगवान की सुन्दर मूर्ति प्रतिष्ठित है। मूर्ति पर नाना प्रकार के अभूषण हैं। यदि पुजारी मूर्ति के उन अभूषणों को उतार कर बेच दें, तो क्या तुम उसे उचित कहोगे? मूर्ति के मुकुट को उतारकर पुजारी उसे चोरी से बाजार में बेंच डाले तो क्या तुम उसे पुजारी मानोगे।

बच्चों के चेहरे गम्भीर हो उठते। वे उत्तर देते, "ऐसा करना तो महा पाप है। जो मूर्ति के गहने बेचे, वह तो चोर और पतित ही कहलाएगा। उसे पुजारी कदापि नहीं माना जा सकता।" तब ऋषि उन्हें समझाते, "तुम्हारी इन्द्रियां आत्मा का अभूषण ही तो हैं। क्या तुमने बनायी हैं ये इन्द्रियां ? ईश्वर ही तो आत्मा होकर तुम्हारी सम्पूर्ण इन्द्रियों को बनाते हैं। उन्हें आत्मा का आभूषण जानों। इन इन्द्रियों का गलत प्रयोग करने वाला उस चोर पुजारी की भांति है, जो मूर्ति का गहना बेचे।" बालक गम्भीरता से मनन करते और स्वीकारते कि यही सत्य है। वह कभी भी अपनी इन्द्रियों का मन चाहा गलत प्रयोग नहीं करेगें। इन्द्रियों को आत्मा का

आभूषण जानकर उनका प्रयोग आत्मयज्ञार्थ आत्म सेवार्थ ही करेगें।

ऋषि उनसे पुनः पूछते, "देखो आत्मा होकर ईश्वर ने तुम्हारे जूठे भोजन को रक्त में बदला। जिस प्रकार भगवान श्री रामचन्द्र ने "शबरी" के जूठे बेर खाये थे। उसी प्रकार घट-घट वासी आत्मा होकर "श्रीराम" आज भी तो तुम्हारी जूठन को रक्त में बदलते हैं। प्रभु जिस प्रकार तुम्हारें शरीर में भोजन को रक्त में बदलते हैं, उसी प्रकार वे सचराचर में, प्रत्येक शरीर में भोजन को रक्त में तथा यथा संतति में लौटाते हैं। एक ही अन्न को नाना प्रकार की देह को धारण करने वाले (मनुष्य, पशु-पक्षी आदि) के शरीरों में उनकी यथा संतति में प्रकट करते हैं। यही अन्न कुत्ते के शरीर में पिल्ले का रूप धारण करता है। गाय के शरीर में बछड़ा हो जाता है। मनुष्य के शरीर में बालक हो जाता है। ईश्वर ही आत्मा होकर प्रत्येक शरीर में भोजन को संतति के रूप में, संतान के रूप में प्रकट कर रहे हैं। जब भगवान आत्मा होकर जीव मात्र से एक जैसा व्यवहार करते हैं। किसी से भेदभाव नहीं करते हैं। वे अभेद होकर सम्यक् भाव से सचराचर में व्याप्त हैं। धर्मात्मा शब्द, दो शब्दों से मिलकर बना है। यथा - धर्म + आत्मा - धर्मात्मा। बच्चों धर्मात्मा तो वही होगा जो आत्मा के धर्म को धारण करे। आत्मा की भांति ही भेदभाव से रहित होकर सब में आत्मा का दर्शन करें। जब भगवान आत्मा होकर किसी से भेदभाव नहीं करते। तब हमारा किसी से भेदभाव करना क्या अनुचित नहीं है ?" बालक पुनः गम्भीरता से विचार करते हुए उत्तर देता, "ईश्वर, घट-घट वासी आत्मा होकर अभेद है। भगवान किसी से भेदभाव नहीं करते हैं। जो सच्चे धर्मात्मा हैं उनका परम् कर्तव्य है कि वे आत्मा की भांति ही आत्मा के धर्म को धारण करते हुए किसी से भेदभाव न करें। सब में भेदभाव को त्याग भगवान को देखें, राम को देखें।" ऋषि उनके उत्तर को सुनकर मुस्कराते तथा पुनः उनके सामने एक समस्या रखते, "बच्चों जब ईश्वर ने आत्मा होकर तुम्हें जीवन का प्रत्येक क्षण दिया, क्या उन्होंने किसी क्षण की कोई कीमत कभी तुमसे मांगी ? क्या ईश्वर जो जीवन के क्षण और शक्ति हमें दे रहे हैं, उसके लिए हमसे कोई इच्छा करते हैं? यदि नही तो मेरे प्रश्न का उत्तर दो? ईश्वर ने आत्मा होकर प्रत्येक क्षण जीवन का निष्काम भाव से, इच्छारहित होकर हम सब को दिया। क्या हमारा भी धर्म नहीं कि ईश्वर के द्वारा दिये हुए उन क्षणों को प्राणी मात्र की निष्काम सेवाओं में इच्छारहित होकर समर्पित करें ? हब सब उन्हीं के पुत्र हैं, जो बना रहें हैं हमको।

पुत्र वही धर्मात्मा होता है, जो अपने पिता का अनुसरण करे। आत्मा होकर पिता ने निष्काम सेवक बनकर हमें जीवन दिया। सम्पूर्ण ऐश्वर्य निष्काम भाव से इच्छारहित होकर हम पर न्यौछावर किया। हम पुत्र हैं उनके, वे पिता हैं हमारे।

क्या हमारा धर्म नहीं कि हम भी अपने पिता की भांति प्राणी मात्र की समर्पित सेवाओं को जीवन की राह बनायें ? सबके होकर जिये। सबके लिए जियें। बालक पुनः गम्भीर हो उठते और तब निर्णय लेते, ''प्राणी मात्र की समर्पित सेवा ही सच्चे धर्मात्मा की राह है।''

इन प्रकार मन्दिर गुरूकुल की पाठशाला की प्रथम कक्षा के रूप में जाना जाता है। जहां भोले बालक अपने निज का प्रथम दर्शन पाते थे। आज की शिक्षा में मन्दिर का न होना एक बहुत बड़ा अभिशाप बन गया है। काश ! हमारे राष्ट्रीय नेता और शिक्षाविद् पूरी ईमानदारी से इस विषय पर विचार कर पाते।

अध्याय – ५

तीन तागों का धनुष

आदि-कालीन शिक्षा में यज्ञोपवीत का बड़ा महत्व रहा है। यज्ञोपवीत संस्कार के उपरान्त ही बालक को वेद अध्ययन का अधिकार मिलता था। यज्ञोपवीत संस्कार के बिना बालक किसी प्रकार की शिक्षा का अधिकारी गुरूकुल में नहीं होता था। प्राचीन काल में यज्ञोपवीत संस्कार गुरूकुल में ही होते थे। जब देश गुलाम हुआ, गुरूकुल व्यवस्थायें समाप्त हो गयीं, तभी से घर-घर में यज्ञोपवीत संस्कार होने लगे। यज्ञोपवीत जो कि प्रकृति और पुरुष द्वारा सचराचर में उत्पत्ति के पुनीत यज्ञों का प्रतीक हैं आधुनिक काल में, सम्भवतः दासता के अन्तरालों में खो गये गुरूकुल और उनकी व्यवस्थाओं के कारण इसका स्वरूप कुछ भ्रमित सा हो गया। बहुत से विद्वान यज्ञोपवीत को वर्ण-व्यवस्थाओं के साथ जोड़कर वर्णोपवीत बताने लगे हैं। कहीं पर इसी सत्य, रज और तामस कर्मों को साथ जोड़कर कर्मोपवीत भी बताया जाने लगा है। जबकि बालक की शिक्षा को तीन सूत्र देने वाला, बुद्धि को सार्थक और उद्‌देश्यपूर्ण बनाने वाला एक परम् पुनीत गाण्डीव है।

भरी हुई बन्दूक जब छोटे बच्चे के हाथ में आ जाती है। तो वह सभी के लिए आतंक का कारण बन जाती है। यही भरी हुई बन्दूक जब सधे हुए हाथों में होती है, तो उत्तम सुरक्षा का कारण बन जाती है। बालक को एक परिपक्व मानसिकता देने वाली शिक्षा का यज्ञोपवीत; सधा हुआ सूत्र रहा है। शिक्षा बन्दूक की तरह अभिशाप भी है और वरदान भी। बचकाने मस्तिष्क में शिक्षा उसका भटकाव और मौत बन जाती है। ज्ञान तो गंगा की तरह एक गहरी, अथाह नदी है। जल न मिलने से व्यक्ति प्यासा ही मर जाता है। उसी प्रकार अज्ञानी का जीना भी ज्ञान रूपी जल के बिना मृतक के समान है। इसके साथ ही ये भी नहीं भूलना चाहिए, कि ज्ञान एक विशाल और अथाह नदी है। इस नदी की लहरों से खिलवाड़ करने वाला बालक बीच धारा में डूबकर मर भी सकता है। उसकी अकाल मृत्यु हो सकती है। इसीलिए ज्ञान जहां वरदान है, वहीं अभिशाप भी है। ज्ञान सदा वरदान रहे। इसी के लिए यज्ञोपवीत संस्कार की कल्पना आदिकाल से गुरूकुल शिक्षा के साथ जुड़ी रही है।

यज्ञोपवीत के तीन सूत्र, बालक की शिक्षा के तीन मूल उद्‌देश्य हैं। उसके जीवन के परम् लक्ष्य है। उसके जीवन की राह है। तीनों सूत्रों को जोड़गांठकर ही यज्ञोपवीत बनाया जाता है। उसके प्रत्येक तागे के साथ एक-एक यज्ञ की कल्पना

है।

''यदग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सत्यमगिरः ।।

हे अग्ने ! हे यज्ञ ! आप कल्याण को करने वाले हैं कैसे ? जो प्रकृति का अंग (यदंग) आपमें यज्ञ होता है। (दाशुषे) उसका तुम है अग्ने (त्वमग्ने) कल्याण करते हो (भद्रं करिष्यसि) कैसे ? (तवेत्तत्) वह आपकी ही (सत्यम्) प्रकृति का अंग अर्थात् आपका ही अंग (अंगरिः) हो जाता है।

जिस अंग को धारण कर तुम जलाते ही, यज्ञ करते हो, हे अग्ने ! उसी का कल्याण करते हो। आपकी ही प्रकृति का वह अंग हो जाता है।

कथा कुछ इस प्रकार है। एक बार जब मैं अपने जीवन के क्षणों को समाप्त कर चुका था। मेरे ही मित्र और स्वजन अर्थी बनाकर श्मशान घाट मुझे ले आये थे। चिता की लकड़ियों पर मेरा तन धू-धूकर जला था। और राख के कणों में छितरा गया था मैं। मेरे ही तन की मिट्टी पानी का संग करके खेत की मिट्टी बन चुकी थी। पौधों की जड़ों ने ग्रहण किया। उन पेड़-पौधों के भीतर आत्मा ने जब मेरे तन की भस्मी को जलाया, यज्ञ किया, तो मेरे ही अंग एक बार फिर उन अग्नियों में जलकर कल्याण को प्राप्त हुए। उन्हीं पौधों पर फल बनकर लहलहा उठे। ये पहला यज्ञ था, सृष्टि का, जहां मेरे ही तन की भस्मी एक बार फिर पावन फलों में लहलहा उठी।

यथा :-

''एवाहास्यासूनृता विरप्शी गोमती मही।
पक्वा शाखा न दाशुषे।'' (ऋग्वेद)

(एवाहास्य) यूँ, ऐसे, इस प्रकार (सूनृता) मंगलयज्ञों को धारण करने हेतु प्रकट हो गया जब आत्मा पेड़ों के गर्भ में (विरप्शी) उसके द्वारा प्रकट उन नाना प्रकार के पेड़-पौधों के पास से (मही) मेरे तन की मिट्टी (गोमती) जो ज्योतियों की राह यज्ञभूमि में, आत्म-ज्वालाओं में, जलने उन पौधों के गर्भ में, अपने ही रूप को मिटाने जब मेरे ही तन की मिट्टी चली, तो (पक्वा शाखा) पके फल बन शाखाओं पर मेरे ही तन के अंग (दाशुषे) यज्ञों के द्वारा उत्पन्न लहलहा उठे।

ये सृष्टि का पहला यज्ञ है। मेरे यज्ञोपवीत के सूत्रों का एक सूत्र। तीन तागों का एक तागा है। मुझे सम्पूर्ण सचराचर में इन पेड़-पौधों को ईश्वर की यज्ञशाला मानकर जीना है, मेरी शिक्षा का पहला सूत्र है, ईश्वर के इस यज्ञ को जानना इस यज्ञ के सामर्थ्य को प्राप्त होना। इस यज्ञ को जानने के लिए मुझे सम्पूर्ण पेड़-पौधों में घट-घट वासी आत्मा के ईश्वर के, दर्शन करने होगें। मुझे इनका

अनन्य भक्त होना है। जब तक मैं इनको अपनी सेवा और भक्ति नहीं दूंगा, वह मुझे इस यज्ञ के रहस्य को क्योंकर बताएगें। यज्ञोपवीत के सूत्र का पहला तागा मेरे जीवन की पहली शपथ है कि मैं वनस्पतियों मात्र का भक्त बनूंगा। पेड़-पौधों को आत्मा मन्दिर जानूंगा यही तो सृष्टि का पहला यज्ञ है, जो मुझे पतित से पावन बनाता है। दूसरा तागा है।

यथा :-

''या कुक्षि सोमपातमः समुद्रइवपिनवते।
उर्वी रापो न काकुदः ।। (ऋग्वेद)

याद कर वो कौन था (या) जिसने (कुक्षि) गर्भ में (सोमपातमः) ज्योतियों का पात करते हुए अंधेरे गर्भ को, यज्ञ की ज्वालाओं में रौशन करता चला गया। (समुद्रइवपिनवते) सागर सा सींचता गया गर्भ को। वह गर्भ क्षीरसागर बना, जहां से हम प्रकट हुए बालक के रूप में ! शिशु के रूप में (उर्वीरापोन काकुदः) कि जनक सा, हल से जोतता गया वह ! एक बड़ा यज्ञ हुआ ! जनक ने हल चलाया तो अन्य वनस्पतियां बनी सुन्दर देह रूप में जानकी के रूप में, प्रकट हो गयी धरती की बेटी, देह हमारी।

इसी अन्न को जब दम्पत्ति भोजन के रूप में ग्रहण करते हैं। तो वह गर्भ से बालक के रूप में प्रकट होता है। यही दूसरा तागा मेरे यज्ञोपवीत का है। दूसरा यज्ञ है।

दूसरे तागे का संकल्प है उस यज्ञ को जानना, जिसके द्वारा अन्न नाना देहों में यथा संतति में लौट रहा है। जीव मात्र में आत्मा का दर्शन करना होगा। जब तक प्राणी मात्र का मैं समर्पित भक्त नहीं बनूंगा। तब तक घट-घट वासी आत्मा उस यज्ञ के रहस्य को मुझ पर क्योंकर उजागर करेगा।

तीसरा तागा यज्ञोपवीत का मैं स्वयं हूँ। जीव और आत्मा के द्वैत को यज्ञ मार्ग से अद्वैत करते हुए स्वयं को उत्पन्न करना। यही तीसरा सूत्र है जिसे मन्दिर रूप में मैं तुम्हं इससे पहले ही दिखा आया हूँ।

दस इन्द्रियों के अर्जुन से अर्जित जीव (बुद्धि) महारथी अर्जुन है। शरीर ही रंथ है, तथा आत्मा कृष्ण सारथी है,, इस शरीर रूपी रथ के। यज्ञोपवीत गाण्डीव है, महारथी अर्जुन का। मायाओं का महासमर ''महाभारत'' है। जीव महारथी को यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर सम्पूर्ण असत्य, अज्ञान रूपी कौरबों, मायाओं का विनाश करते अंतर्मुखी हो आत्मा अनन्त से अद्वैत कर, कृष्णमय हो जाना ही इस युद्ध की ''विजय श्री'' है।

यज्ञोपवीत पर सात गाठें हैं। सप्त देवों, सप्त ग्रहों, सप्त ऋषियों की साक्षी

हैं। इन सबको सम्मुख करके मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, कि सप्त वासनाओं को गांठ लगाकर आठवीं ज्वाला अर्थात् आत्मा रूपी अग्नि को, अग्नि के सत्य को पाने के लिए मैं इस यज्ञोपवीत को धारण करता हूँ। आठवीं ज्वाला, ''वसुदेव'' के आठवें पुत्र, ''कृष्ण'', ये सब आत्मा के पयार्यवाची हैं। जब भी मैं सप्त वासनाओं से उपराम नहीं हो पाता हूँ। मेरी आस्था मृत्यु के उपरान्त ''श्रीमद्भागवत्-कथा'' के धुंधकारी के जैसी होती है जो सप्त वासनाओं रूपी बांस की सप्त गांठों पर बैठता है, प्रेत बनकर। जिसने अपने जीवन में सप्त वासनाओं को बांधा नहीं, उसका जीवन मनुष्य की योनि में रहते हुए भी प्रेत के जैसा ही होता है। ये ''श्रीमद्भागवत्'' की कथा में भक्ति की कथा के उपरान्त कथा में स्पष्ट किया गया है।

यज्ञोपवीत के साथ ही यज्ञ और यज्ञशाला की चर्चा करना परमाश्वयक है। गुरुकुल की शिक्षा सदा उनसे जुड़ी रही है। यज्ञ का आरम्भ जब करते हैं तो उसकी पृष्ठ भावना को भी ऋषि वेदों में स्पष्ट करते हैं।

जीवन एक यज्ञ है। सम्पूर्ण सचराचर यज्ञमय है। विश्व यज्ञ से ही प्रकट होता है। संसार की उत्पत्ति, धारण तथा प्रलय भी यज्ञ के द्वारा ही होता है। यज्ञ के स्वरूप को ऋग्वेद में स्पष्ट करते समय, बाह्य यज्ञ को, मन्दिर की भांति ही, प्रतीक के रूप में ग्रहण किया गया है। यज्ञ का आचार्य कौन हो ? आचार्य जो यज्ञ कराने के लिए आये हैं, हम उन्हें किस रूप में ग्रहण करें ? आचार्य का ग्रहण किस भावना से किया जाये ? जब इन प्रश्नों को वेद में हमने जानना चाहा तो हमें उत्तर मिला।

''ईश्वर (आत्मा) ही यज्ञ का अधिष्ठित देव है।''

वह ही आत्मा होकर सम्पूर्ण सचराचर में, सम्पूर्ण यज्ञों को धारण करते हैं। अपनी अन्तरात्मा को ही यज्ञ का अधिष्ठित देव जानों। आचार्य जो यज्ञ के हेतु आये हैं, उन्हें ईश्वर की भांति, आत्मा की भांति ग्रहण करो। उनका स्वागत तथा ग्रहण ईश्वर का प्रतीक मानकर ही करो ? अन्यथा सम्पूर्ण सचराचर में यज्ञ के अधि ाष्ठित देव आत्मा ही है।

आचार्य के साथ ही उपाचार्य भी यज्ञ के लिए वरण किये जाते हैं। हमने जानना चाहा उपाचार्य को किस रूप में ग्रहण करें ? वेद ने कुछ ऐसा उत्तर दिया। ''जिस प्रकार आत्मा, घट-घट वासी होकर, सम्पूर्ण यज्ञों का अधिष्ठित देव है, उसी प्रकार *''प्राण-वायु ही सम्पूर्ण यज्ञों का उपाचार्य है।''* प्राण-वायु ही आत्मा के साथ सम्पूर्ण यज्ञों का पावनकर्ता है। इसलिए उपाचार्य को प्राणवत् बाहूय यज्ञ में ग्रहण करो, उनका यथा वरण एवं पूजन करो।''

हमने जानना चाहा कि आचार्य और उपाचार्य के उपरान्त यज्ञ की ज्वाला

क्या है? हमें वेद से जो उसका उत्तर मिला वह इस प्रकार है। – *"ब्रम्ह अग्निया अर्थात् आत्मा की ज्वाला ही यज्ञ की ज्वाला है।"* आत्म-ज्वालाओं में, यज्ञ होकर खेत की मिट्टी फल बनाती है तथा फल बालक बनते हैं। लकड़ियों पर जलाकर कोई भी मिट्टी से फल, अथवा फल से बालक नहीं बना सकता है। इसलिए ब्रम्ह ज्वाला अर्थात् आत्मा रूपी अग्नियां ही मूलतः यज्ञ की ज्वाला हैं। बाह्य यज्ञ के लिए पवित्र वेदी बनाकर आत्म-अग्नियों का प्रतीक, पवित्र अग्नि मंत्रों के द्वारा प्रकट करो।

यज्ञ की सामग्री क्या हो ? सांकल्य के रूप में, सामग्री के रूप में, हम यज्ञ करने हेतु पदार्थ को ग्रहण करें। हमारे इस प्रश्न का उत्तर भी हमें वेद ने दिया, "हमारा तन ही यज्ञ की सामग्री है। जीवन का प्रत्येक क्षण यज्ञ सामग्री है। इस मिट्टी से फल बनी सामग्री पुनः यज्ञ होकर ही शरीर बनी थी। ये फल ही पुनः शरीर में ब्रम्ह ज्वालाओं के द्वारा भस्म होकर बालक का अर्थात् तुम्हारा स्वरूप पाये हैं। शरीर ही सामग्री है। जिसे तुम अर्न्तमुखी होकर अपने ही अन्तर में ब्रम्ह ज्वालाओं में यज्ञ करते हो। बाहर के यज्ञ के लिए सामग्री के रूप में भोज्य पदार्थों को ग्रहण करना, जिनके द्वारा तुम्हारा ये शरीर बना है। घृत, तिल, जौ तथा अन्य खाद्य पदार्थ हवन सामग्री के रूप में किये जाते हैं। इस प्रकार अर्न्तमुखी यज्ञ में तन तथा जीवन का प्रत्येक क्षण सामग्री है। बाह्य यज्ञ में भोज्य पदार्थ ही सामग्री है।

यज्ञ का "यजमान" कौन हो ? भीतर और बाहर के यज्ञ के कौन-कौन से यजमान होने चाहिए ? हमारे इस प्रश्न का उत्तर भी हमें वेद ने दिया, *"जीव होकर तुम्हीं यज्ञ के यजमान हो, भीतर भी और बाहर भी।"* यजमान उभय है बाहर के यज्ञ में सामग्री के साथ, सामग्रीवत असत्य, अज्ञान और वासनाओं को जलाते हुए हमें मूढ़ और अकिंचन होना है । वही पर अर्न्तजगत में ब्रह्म-ज्वालाओं के सम्मुख यज्ञ होने के लिए आना है।

" केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे।
समुषद्भिरजायथाः ।। (ऋग्वेद)

(केतुम्) अर्थात् उपाधियों को (कृणवन) नष्ट करके, मिटा करके, (अकेतवे) अकिंचन हो जा (पेशों) भौतिक जगत का भौतिक ज्ञान को (मर्या) सीमा को तोड़ पुनः (अपेश) मूढ़ हो जा (समउषदभिः) प्रातः काल के सूर्य के समान अपने ही अन्तर के जगत में, (अजायथः) जन्मना चाहता है। उपाधियों को नष्ट कर अकिंचन हो भौतिक जगत के, भौतिक भेदभाव पूर्ण ज्ञान को समाप्त कर मूढ़ हो जा। यदि अन्तर के जगत में, आत्मा की राह जन्मना चाहता है, तो बाहर से विरक्त हो, मूढ़ हो; अकिंचन हो, और ज़ब ईश्वरमय हो जाये :-

''आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे।
दधाना नाम यज्ञियम्।। (ऋग्वेद)

(आदहः) आकर दहन हो, अर्थात् जल (स्वधात्मनु) आत्मा रूपी धाम में (पुनर्गर्भत्वमेरिरे) उसके गर्भ से पुनः ज्योतियों का सूर्य बनकर, पुनः उत्पन्न हो। (दधाना) धारण कर नाम को (यज्ञिमू) यज्ञ के।

जब बाह्य जगत से मुक्त और अकिंचन होकर तू भीतर आया तब आकर आत्मा रूपी यज्ञ में अपने आप को दहन कर अर्थात् जला स्वयं को। जब तक तू इन ब्रह्म ज्वालाओं में जला नहीं था, तुम्हारा उत्थान नहीं हुआ था। मिट्टी फल नहीं बनी, फल से बालक नहीं बना था। इसलिए आकर आत्मा रूपी ज्वालाओं में स्वयं को जला और फिर इन अग्नियों के गर्भ से एक ज्योर्तिमय सूर्य सा बनकर पुनः प्रकट हो जा। शक्ति के रूप में, यज्ञ होकर, यज्ञ के रहस्य को जान, स्वयं यज्ञ को धारण कर।

इस प्रकार बाह्य यज्ञ, शिक्षा के सूत्र में बच्चों को उनके व्यापक स्वरूप का परिचय देने का हेतु था। यज्ञ के द्वारा बालक अपनी आत्मा का, प्राणों का दर्शन तो पाते ही थे। सचराचर में वे स्वयं को खोजने लगते और एक व्यापक व्यक्तित्व को प्राप्त हो जाते। वे प्रकृति के समान विस्तृत, गगन के समान उन्नत तथा सर्वव्यापी आत्मा के समान ही पूर्ण पुरुष होते थे। सनातन धर्म इस प्रकार बालक को सम्पूर्ण सचराचर में उसके ही आत्म दर्शन कराकर, उसकी शिक्षा को उद्देश्यपूर्ण तथा अमृतमय बनाता था। वे बालक यज्ञोपवीत के सूत्र को पहनकर अपने जीवन के लक्ष्य से कभी भी भ्रमित नहीं होता था।

आज की लक्ष्य विहीन शिक्षा में सम्भवतः अब अच्छी नौकरी, बढ़िया तनख्वाह, मोटी घूस। तीन सूत्र बनकर रहे गये हैं।

अध्याय – ६

जीवन एक पाठशाला

आदि-भारती ने मनुष्य के जीवन को ही एक विद्यार्थी का स्वरूप दिया। सनातन-धर्म में मनुष्य की योनि का सारा जीवन, पाठशाला में पढ़ते एक विद्यार्थी की राह है। प्रकृति को, सनातन-धर्म ने, पाठशाला की पाठ्य पुस्तक का स्वरूप दिया। सम्पूर्ण प्रकृति पाठ्य पुस्तक है। चौरासी लाखयोनियां ही पाठ्य-पुस्तक के चौरासी लाख अध्यायं है। ये किताब किसी किताब की तरह एक स्थान पर बैठकर नहीं पढ़ाई जा सकती। इसको पढ़ने के लिए जीव को प्रत्येक योनि में भ्रमण करना होता है। प्रत्येक योनि में इस पुस्तक के एक अध्याय को पढ़ता हुआ जीव; मनुष्य की योनि में परीक्षा के लिए आता है। मनुष्य की योनि को परीक्षा की घड़ियों के रूप में सनातन-धर्म में स्वीकारा गया है।

ईश्वर ही आत्मा होकर अध्यापक है। प्रत्येक योनि में ईश्वर आत्मा होकर जीव रूपी छात्र को पाठ्य-पुस्तक के यथा अंश पढ़ाता हुआ, परीक्षा के लिए मनुष्य की योनि मे लाता है। प्रत्येक योनि में ईश्वर आत्मा होकर अध्यापक है, गाइड है। यही परमेश्वर मनुष्य की योनि में आत्मा होकर परीक्षक बन जाता है। परीक्षा की घड़ियां ही जीवन है। परिस्थितियां ही प्रश्नपत्र है। शरीर ही कापी है। प्रश्नों के उत्तर दो ? पास हो जाओ, मोक्ष को ग्रहण करो। फेल हो जाओ तो चौरासी लाख योनियों के चौरासी लाख अध्याय पढ़ने के लिए इस प्रकृति की पाठशाला में उतर आओ। दूसरी अवस्था एक और भी है, "कम्पार्टमेन्ट।" जिस प्रकार मनुष्य एक विषय में थोड़े नम्बरों से फेल हो जाने से उसकी पुर्नपरीक्षा होती है। उस विधान की कल्पना वेद, और सनातन्-धर्म ने भी अपनी पाठशाला में की है। मनुष्य योनि में परीक्षा की घड़ियों में प्रश्नों के उत्तर देता छात्र यदि थोड़े नम्बरों से फेल होता है तो उसे चौरासी लाख योनियों मे पूरे चौरासी लाख अध्याय नहीं पढ़ने पड़ते हैं। वरन् वह कुछ योनियों के बाद पुनः मनुष्य की योनि को ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार वह कुछ योनियों के बाद पुर्नपरीक्षा के लिए पुनः परीक्षा के लिए मनुष्य की योनि में आ जाता है। यह एक विलक्षण कल्पना है जो सारे विश्व में सभी धर्मों मे केवल सनातन धर्म की ही है। सनातन धर्म ने धर्म ग्रन्थ के रूप में प्रकृति को ही धर्म का मूल-ग्रंथ माना है।

जब भी सवर्ण परिवारों में बालक उत्पन्न होता है तो बारह दिन का सूतक मनाया जाता है। ये सूतक बारह जन्मों की शूद्रता का प्रतीक माना जाता है। मान्यता

के अनुसार ये मान लिया जाता है। कि जन्मता बालक उस परिवार का ही कोई पूर्वज है, जो बारह योनियों के भटकाव को भोगकर, अपनी ही परिवारिक आसक्तियों के कारण पुनः अपने परिवार में जन्मा है। इसलिए बारह योनियों के भटकाव का प्रतीक बारह दिन का सूतक मनाया जाता है। इसके साथ ही ये भी व्यापक मान्यता है कि यदि वह चौरासी लाख योनियां भोगकर आ रहा होता तो सर्वप्रथम ऐसे परिवार में जन्म पाता जहां चौरासी लाख दिन सूतक वास करता। वह अज्ञान के जगत में ही रहता; मनुष्य योनि के तत्व को न पाता।

जब व्यक्ति अपने ही घर में मर जाता है तो उसकी तेरहवीं मनायी जाती है। इसकी मान्यता इस प्रकार हैं कि बारह जन्मों को शूद्रता का प्रतीक बारह जन्मों की शुद्रता का प्रतीक बारह दिन का सूतक ओढकर वह जन्मा था। मनुष्य की योनि में आकर भी वह आत्मा से अद्वैत नहीं कर पाया। जीवन के मूल उद्देश्यों को धारण कर आत्मा की राह से, जा नहीं पाया। बारह जन्मों की शुद्रता का प्रतीक, बारह दिन का सूतक ओढ़कर जो वह उत्पन्न हुआ था। अब उसमें इस मनुष्य योनि की शुद्रता का एक दिन और बढ़ा दो। बारहवीं, तेरहवीं हो गयी। छूत का एक दिन और बढ़ गया।

इन मान्यताओं को यदि हम प्रकृति की पाठ्य-पुस्तक में देखें तो हमें बहुत ही सशक्त, स्पष्ट और अकाट्य प्रमाण सर्वत्र मिलेगें।

विदेशों से चिड़िया उड़कर लगभग आधी दुनियां पार करती हुई, "भारत" आती है। वे अपने पीछे कुछ पंक्षी और अण्डे छोड़ जाती है। अनुसंधान के लिए वैज्ञानिकों ने कुछ चिड़ियों पर रंग से पहचान के लिए चिन्ह लगा दिये। उसी प्रकार के चिन्ह उनके द्वारा छोड़े हुए अण्डों पर भी लगाये गये। चिड़िया अण्डे छोड़कर उड़ गयी। कुछ समय के उपरांत पीछे रह गये पक्षी, चिड़ियों के संरक्षण और देखभाल में अण्डे फूटे। उनसे बच्चे निकले। जो क्रम अण्डों के खोल पर निशान के रूप में लगाया गया था, उसे वैज्ञानिकों ने नवजात शिशुओं के पंखों पर भी यथावत् बना दिया। कुछ समय के उपरांत बच्चे बड़े हुए, सशक्त हुए। जब खा-पीकर कुछ हृष्ट-पुष्ट हुए तो वे भी उड़ चले। उन्हीं पेड़ों पर बसेरा करते, उन्हीं घाटियों से गुजरते। वे भी उसी झुण्ड में आकर शामिल हो गये, जिसमें उनके मातपिता थे।

वैज्ञानिक स्तब्ध और अवाक् देखते रहे। प्रत्येक बच्चा तीर की तरह सीधा अपनी माँ के पास गया। दोनों के पंखों पर बने निशान एक जैसे थे। अण्डे के खोल में बच्चा बन्द थां। उन्होंने अपने माता-पिता को देखा भी नहीं था। फिर भी वे अपनी माँ के पास ही गये। यदि ईश्वर आत्मा होकर अध्यापक अथवा गाइड

न होता तो वह छोटा सा शिशु अपनी माँ को कैसे पाता। मनुष्य के बच्चे के लिए, खो जाने पर, अपनी मां को ढूंढ़ लेना सम्भव नहीं है। जबकि पक्षियों में यह सहज सम्भव है। एक साधारण सी बात है। इसी प्रकार के असंख्यों प्रमाण इस प्रकृति में आप स्वयं देख एवं सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा ग्रहण कर सकते हैं। शिक्षा में छात्र को केन्द्र-बिन्दु बनाकर सम्पूर्ण सचराचर को पाठ्यक्रम के रूप में ग्रहण कर लेना, अतीत की शिक्षा की यह एक अद्भुत अनूंठी देन है।

मनुष्य के जीवन को भी पाठशाला के पाठ्य क्रम के रूप में ग्रहण किया गया है। यथा, अज्ञान की शूद्रता, बचपन है। गुरूकुल की वैश्यवृत्ति किशोरावस्था से आरम्भ हो युवावस्था की दहलीज है। क्षत्रिय कुल का संग्राम गृहस्थ जीवन के, जीवन का युद्ध है, जिसकी सीमा पुनः प्रौढ़ावस्था की देहरी पर टिकी हुई है। प्रौढ़ावस्था सबसे प्रति समर्पित होकर जीने का एक सहज सरस मंत्र है। सारे जीवन की सार्थकता इसमें निहित है। प्राणी मात्र में निज आत्मा का दर्शन करना। अपने व्यक्तित्व को सम्पूर्ण सचराचर में ढालकर वानाप्रस्थ-धर्म के गगन छूते व्यक्तित्व में बदल देना। जीवन की एक महानतम उपलब्धि है। पूर्ण परीक्षा के क्षण, सरयू के उस पार अग्नियों में लिपटता, ''अग्निवेश'' ही उसका सन्यास रूप है। उसका अन्त नहीं होता, क्योंकि अन्त ही अनन्त हो जाता है। जीवन की विलक्षण पाठशाला हैं प्रकृति ही पाठ्य-पुस्तक है। चौरासी लाख योनियां ही चौरासी लाख अध्याय हैं। गुरूकुल परीक्षा ही तीमाही परीक्षा है। गृहस्थ धर्म उसकी छमाही परीक्षा है। वानाप्रस्थ की पूर्णतः ही नवें मास की परीक्षा में उत्तीर्ण होना है। सन्यासी होकर आत्मा से योग करते हुए, आत्मस्थ होकर, ब्रह्माण्ड से प्रकट होना ही सालाना परीक्षा है। इस प्रकार सम्पूर्ण मनुष्य की योनि परीक्षा के क्षण है। ये अद्भुत पाठशाला है। जिसके विलक्षण पाठ्यक्रम हैं। आत्मा ही परीक्षक है। बड़े विचित्र व टेढ़े-मेढ़े प्रश्न हैं। जिन्हें परिस्थितियों प्रकट करती हैं और झुठलाती है। शरीर ही उत्तर-पुस्तिका है। यूँ हर क्षण हम एक परीक्षा की भांति जीवन के सभी स्तरों पर प्रश्नों के समूह में जी रहे हैं।

परीक्षा के क्षणों में, परीक्षा स्थल पर जो छात्र की मनः स्थिति तथा स्वतंत्रता होती है, वही आज हमको भी इस जीवन में प्राप्त हैं परीक्षा के क्षणों मे समय सीमित होता है। समय पूरा होते ही छात्र से कापी छीन ली जाती है। ठीक वही अवस्था हमारे सीमित समय में हमें इन चारों परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना है। इसलिए प्रश्न के उत्तर दे पायें अथवा न दे पायें; चिता की लकड़ियों पर इस शरीर रूपी उत्तर पुस्तिका को वक्त छीन ही लेगा। परीक्षा स्थल में प्रश्नपत्र और उत्तर पुस्तिका दोनों ही परीक्षक देता है। छात्र अपने घर से न तो प्रश्नपत्र ला सकता है

और नही उत्तर पुस्तिका। आप विचार करें, आज भी परिस्थितियों का प्रश्नपत्र वह विधाता ही बना रहा है तथा शरीर रूपी उत्तर पुस्तिका भी वह परीक्षक ही हमें दे रहा है। हमारी स्वतंत्रता भी परीक्षा दे रहे छात्र तक सीमित है। मैं न तो एक समय का भोजन बनाना जानता हूँ, और न ही एक बच्चे की ऊँगली का टुकड़ा। एक सीमित अधिकारों की तथा असीम कल्पनाओं की जिन्दगी मेरी उसी छात्र की तरह ही तो है, जो पढ़ाई की इस परीक्षा को दे रहा है। वैसे मन से वह स्वतंत्र हैं जहां तक चाहे कल्पनाओं के गगन में स्वछन्द उड़ ले।

जब पाठशाला में बालक गलती करता है तो अध्यापक उसे समझाता है। दण्ड भी देता है। वही अध्यापक परीक्षा स्थल पर जब परीक्षक बनकर आ जाता है, तो वह बालक को न तो समझता है और न ही दण्ड देता है। इन परीक्षा के क्षणों में हमारी ही आत्मा जो परीक्षक बन गया है, यदि हमारी भूलों के लिए हमें दण्ड नहीं दे रहा है। हमारे कान नहीं पकड़ रहा है, तो उसको छूट मान लेना हमारा अपने प्रति किया गया विश्वासघात और जघन्य अपराध होगा। हमें अपनी वस्तुस्थिति से सदा परिचित और सतर्क रहना चाहिए। हमारी हर भूल और गलती हमारे फेल होने की तरह है। निर्णायक अवस्था में जब अध्यापक परीक्षक हो जाते हैं, तो वे न तो समझाते हैं और न ही दण्ड देते हैं। ऐसे समय में हर क्षण को पूरी सावधानी और सतर्कता के साथ जीना ही एक सार्थक जीवन है।

इसीलिए धर्म ने शिक्षा के केन्द्र के रूप में छात्र तथा सम्पूर्ण सचराचर को पाठ्य-क्रम के रूप में ग्रहण किया।

अध्याय – ७

''उत्तर - दक्षिण'' - ''जय - पराजय''

जीवन की इस पाठशाला में कौन उत्तीर्ण हुआ ? कौन जीता, कौन हारा? इसी कथा को उत्तरायण और दक्षिणायण की संज्ञाओं में सनातन-धर्म में व्यापक रूप से गाया गया है। ''श्रीमद्‌भगवतगीता'' में भगवान श्री कृष्ण वीरवर ''अर्जुन'' को उपदेश करते हुए कहते हैं ''हे अर्जुन जिस प्रकार एक ही सूर्य के दो पक्ष है, उत्तरायण और दक्षिणायण। जिस प्रकार एक चन्द्रमा के दो पक्ष हैं, शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष। उसी प्रकार सम्पूर्ण सचराचर के, गमन के, दो मार्ग हैं ''उत्तरायण'' और ''दक्षिणायण''। मनुष्य भी इन दो राहों के बीच में खड़ा है। एक मार्ग ''उत्तरायण'' मार्ग है जिसका 'देवयान' हैं। ये ''शुक्ल'' मार्ग है। इस मार्ग से गये योगीजन पुनः आवागमन को प्राप्त नहीं होते। दूसरा मार्ग दक्षिणायण मार्ग है। जिसका ''पितृयान'' है और ''धूम्र'' मार्ग है। इस मार्ग से गये जीव पुनः आवागमन को प्राप्त होते हैं। और फिर-फिर इस पाठशाला में अपने पाठ दुहराने के लिए आते हैं। इसी सत्य को ''राम'' की कथा में दिखलाया गया है। उत्तर का ''राम'', दक्षिण की ''लंका'' में, जानकी को खो देता है। और दक्षिण को जीतकर ही पुनः राम उत्तरायण हो पाता है।

इसी कहानी को ''महाभारत'' में ''भीष्म'' की बाण शय्या के रूप में दिखाया गया है। भीष्म उत्तरायण से पूर्व देह त्याग नही करते हैं। ''मकर-संक्रान्ति'', का महापर्व भी इसी कथा का महापर्व है। अनन्त काल से ''मकर-संक्रान्ति'' उत्तरायण पर्व के रूप में मनाया जाता है। जीवन की पाठ शाला में वही छात्र पास हुआ जिसने उत्तरायण की राह ली, तथा वह छात्र फेल हो गया, जो दक्षिण को झुकता चला गया। इस रहस्य का संक्षेप में अनावरण करते हैं।

जिस प्रकार एक पेड़ से उत्पन्न हुए फलों की दो गतियां होती हैं। जैसे एक फल पेड़ से टूटकर गिरा। सड़ गया। पुनः खाद बनकर फिर आवागमन को प्राप्त हो गया। वैसा ही एक दूसरा फल किसी देहधारी के गर्भ में यज्ञ के बालक का स्वरूप ले चला। प्रथम अवस्था दक्षिणायण है तथा दूसरी अवस्था को उस फल का उत्तरायण कहा जायेगा। इसी प्रकार ग्रह, गमन में बिन्दु-बिन्दु से ही जुड़ते हुए उल्काओं का स्वरूप ग्रहण करते हैं। यही उल्कायें धीरे-धीरे ग्रहों और नक्षत्रों के स्वरूप को प्राप्त हो जाती हैं। इन ग्रहों और नक्षत्रों के भी दो मार्ग गमन के वेद ने माने हैं। प्रथम अवस्था जब वह ग्रह अपनी ही मायाओं के विस्तार के कारण

अपने स्परूप को नष्ट करता बिन्दु में विसर्जित हो धूम-केतु बनता गगन में पुनः छितरा जाय। ये ग्रह का महा प्रलय हैं, जिसे दक्षिणायण कहा गया है। दूसरी अवस्था उस ग्रह की भी हो सकती है। ग्रह रूद्र वलय को धारण करता सूर्य की भांति प्रकाशित हो, अनन्त वायु को प्राप्त हो जायें यह ग्रह का ''उत्तरायण'' है। इसी प्रकार ग्रहों और नक्षत्रों से लेकर पेड़-पौधे और पशु-पक्षी सभी ''उत्तरायण'' और ''दक्षिणायण'' अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं। मनुष्य भी इससे अछूते नहीं हैं। उनके लिए भी दो अवस्थायें हैं। प्रथम अवस्था ''दक्षिणायण'' है। अपने जीवन के क्षणों को समाप्त कर, मृत्यु को प्राप्त हो चिता की लकड़ियों पर धूम्र मार्ग से गमन करना। आवागमन को प्राप्त होना। चिता की लकड़ियों को पितृयान कहा गया है। दूसरी अवस्था है अपने शरीर रूपी देवालय को आत्म ज्वालाओं में जलाते हुए, जीव रूपी पुजारी बनें। आत्म ज्वालाओं में तन सामग्री को यज्ञ करते चलें। आत्मा से अद्वैत कर अमर हो जायें। यही उसकी ''उत्तरायण'' राह है।

आदिकाल से सनातन-धर्म में इस कल्पना को ही सर्वत्र सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में ही ग्रहण किया गया है। जब भी कोई ग्राम अथवा जनपद बनाते थे। उसके उत्तर में देवालय होता था तथा दक्षिण में ''श्मशान'' घाट। यदि शरीर देवालय बनेगा तो जीव उत्तर का देवता बनेगा। ''उत्तरायण'' हो जायेगा। अन्यथा ये शरीर श्मशान जैसे विषय वासनाओं की लंका बनेगा। चिता की लकड़ियों पर रावण की लंका सा धू-धूँकर जलेगा। आवागमन को प्राप्त होगा। भस्मी से फल और फल से नाना योनियों में फिर-फिर प्रकट होगा।

चिता की लकड़ियों को ''पितृयान'' क्यों कहा ?

इसलिए कि ये शरीर पेड़ों के फलों से बना है। वह पेड़ ही तो उसके पितृ हैं। इसलिए उन पेड़ों की लकड़ियों की चिता ही पितृयान कहलाती है। ''श्रीमद्‌भागवत'' में भी धुंधकारी को ''दक्षिणायण'' मार्ग के रूप में दिखलाया गया है। वही पर ''गोकर्ण'' उत्तरायण मार्ग के रूप में प्रदर्शित किया गया है। मोक्ष की कल्पना भी केवल सनातन-धर्म में ही है। दूसरे धर्मों में जीव और आत्मा में अर्थात् ईश्वर और मनुष्य में मरने के बाद भी बहुत से आसमानों की दूरी कायम रहती है। भारत के अद्‌भुत दृष्टा, ज्ञान और विज्ञान में पूर्ण वैज्ञानिक संत और ऋषि जीवन को और मृत्यु को एक चुनौती के रूप में ग्रहण करते हैं। इसलिए 'जय' और 'पराजय' की कल्पना सनातन-धर्म के सभी ग्रंथों व्याप्त रूप से देखने में आती हैं दूसरी अति विलक्षण बात; जीव और ईश्वर का एक ही देह में होना है। पति और पत्नी में दूरी तो हो सकती है, परन्तु जीव और आत्मा अभिन्न होकर एक ही देह में वास करते हैं। ये मान्यता सनातन-धर्म की आदिकालीन है। मनुष्य के सबसे करीब उसका

ईश्वर होता है। जो आत्मा होकर उसमें व्याप्त है। उससे अद्वैत करना ही उसके जीवन का परम् लक्ष्य है। यही ''उत्तरायण'' है। इसी कथा को चारों वेदों में बारम्बार दुहराया गया है। सबसे पहले हम ''दक्षिणायण'' मार्ग को स्पष्ट करते हैं।

बालक के जन्म समय में बारह दिन का सूतक बारह योनियों के भटकाव के रूप में मनाया जाता है। इसे हम स्पष्ट कर चुके हैं। गुरूकुल, भौतिक ज्ञान के साथ-साथ, उत्तरायण मार्ग को स्पष्ट करने का पवित्र स्थान माना गया है। बालक गुरूकुल में जहां इच्छित भौतिक विषयों में पारंगत होता था, वहीं पर अनिवार्य विषय में अध्यात्म में भी पारंगत होना पड़ता था। अध्यात्म से जुड़े सभी विषय उसकी शिक्षा में अनिवार्य थे। गुरूकुल की शिक्षा में गृहस्थ-धर्म को, वानाप्रस्थ - धर्म का पूर्वाभ्यास ही दिखलाया गया है। जहां बालक एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही गृहस्थ-धर्म को धारण करता है। यथा-'जिस प्रकार परम् पिता परमेश्वर आत्मा होकर सम्पूर्ण सचराचर को एक परिवार के रूप में धारण करते हैं। उस अवस्था में भी आत्मा होकर नारायण, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, लोभ, मोह आदि को प्राप्त नहीं होते तथा पाप और पुण्य में भी निर्लिप्त रहते हैं। उसी प्रकार क्या मैं एक परिवार को आत्मवत् धारण करने का साहस कर सकता हूँ।' यही गृहस्थ धर्म का मूल उद्देश्य अध्यात्म में माना गया है। मैं आत्मा का पुत्र हूँ। ईश्वर का बेटा हूँ। ईश्वर सारे संसार को परिवार के रूप में धारण करते हैं। गृहस्थ के रूप में, मैं उसका एक छोटा सा पूर्वाभ्यास अर्थात् 'रिहर्सल' कर रहा हूँ। गृहस्थ शब्द का अर्थ ही अध्यात्मिक होकर जीने से है। गृह+रथः = गृहस्थ। जो आत्मा रूपी घर में स्थित है, जो आत्मस्थ है, उसी को गृहस्थ कहा।

गृहस्थ-धर्म के उपरान्त वानःप्रस्थ धर्म से उसके आत्मस्थ जीवन की शुरूआत होती थी। एक पूर्ण पुरूष के रूप में वह सम्पूर्ण संसार को आत्मस्थ होकर धारण करने लगता है। सारा संसार ही उसका परिवार है। आत्मा की भांति ही वह सच्चा मित्र और दोस्त है। आत्मा की राह चल दिया है। पुत्र ही बड़ा होकर पिता का स्थान लेता है। प्राणी मात्र में अपनी आत्मा का दर्शन करता हुआ, सचराचर के प्रति समर्पित हो गया है। आत्ममय जगती, आत्मवत जीवन, आत्मस्थ सेवाएं तथा एक आत्मा का दर्शन ही सत्य रूप में वानःप्रस्थ धर्म की परिभाषा है।

परन्तु जिसने जीवन के मूल उद्देश्य को खो दिया। भौतिक भटकाव ही उसके जीवन का सब कुछ बन गया। एक परिवार के सीमित हितों के लिए जीवन पर्यन्त सचराचर का भक्षण करता रहा। जीवन के क्षणों को नष्ट करके, जब वह अपने ही संकीर्ण गृहस्थ में, एक शव बनकर आंगन में पड़ा था। वेद ने कहा, वह अभिशप्त है। वे स्वयं से भी पराजित है। उसके स्वजन उसकी अर्थी बनाकर दक्षिण

की ओर, गांव के बाहर ले चले। मरने के उपरान्त पैर भी दक्षिण दिशा में कर दिये जाते हैं। जिसका तात्पर्य है कि वह दक्षिणायण मार्गी हो गया है। बन के अर्थी, जा रहा है, दक्षिणायण में। श्मशान घाट में लाकर लिटा दिया। बारह दिन का सूतक जन्मकाल का अब तेरहवीं बन गयी है। एक जन्म की शूद्रता का प्रतीक, एक दिन, उसमें जुड़ गया है। जन्मकाल का शूद्र पुनः महाशूद्र हो गया। उसके स्वजन ने पूछा ''उसकी मृत देह का क्या उपचार हो ?'' वेद ने कहा, ''भटक गया है। शरीर सामग्री को आत्म ज्वालाओं में यज्ञ कर ब्रह्माण्ड से प्रकट होना था उसे। ये ऐसा नहीं कर पार्या इसका जीवन व्यर्थ हो गया।'' स्वजन ने पूछा, ''अब इस मृतक देह का क्या उपचार हो ?'' वेद ने कहा, ''जिन पुत्रों की आसक्तियों के कारण ये भ्रमित, अन्तर्मुखी नहीं हुआ, उन्हीं पुत्रों को बुलाकर कहो, कि वे इसके लिए पितृयान सजाएं। जिन पेड़ों के फलों से ये शरीर बना है, ऐसे ही पेड़ों की लकड़ियों को चिता के रूप में इकट्ठा करें। इस मृत देह को यज्ञ सामग्री की भांति नहलाएं -धुलाएं और पवित्र करें। सामग्री की भांति ही उसके मुख में घृत आदि का संचार करें। तद्उपरान्त इसे यज्ञ के हेतु चिता की लकड़ियों पर लिटाकर अग्नि दें। जिन लड़कों की आसक्तियों के कारण इसने जीवन के उद्देश्यों को जला दिया है। अब वे लड़के ही जलायें उसकी देह को।'' लड़कों ने चिता जला दी। लपटें निर्जीव तन को छूने लगीं, तो वेद ने पुनः कहा, ''शरीर रूपी सामग्री को ही पितृयान पर यज्ञ करना है, इसलिए ''कपाल-क्रिया'' द्वारा जीव रूपी ''यजमान'' को देह से अलग करो।''

पुत्र एक मजबूत बांस से चिता में लेटी अपने पिता के देह की ''कपालक्रिया'' करता है। बांस के प्रहार से उसके ''कपाल'' को फोड़ता है, जिससे ब्रह्म-रन्ध्र में फंसा हुआ जीव मुक्त हो सके। जिस जीव को आत्मा के साथ अद्वैत कर इस देह से जाना था, वह अब ''कपाल-क्रिया'' द्वारा देह से मुक्त होकर, प्रेत योनि को प्राप्त हुआ कपाल-क्रिया करने वाले की देह में ''तेरहवीं'' पर्यन्त वास करेगा। ''कपाल-क्रिया'' वाले पुत्र की देह में वास करता हुआ, उसी की इन्द्रियों से ''गीता'', ''भागवत'', ''वेद'', पुराण आदि का श्रवण करेगा। प्रायश्चित करता हुआ यथा योनि को गमन करेगा। 'श्रीमद्भागवत' का धुंधकारी है वह।

जो बालक 'कपाल-क्रिया' करता है, उसका स्पर्श घर के लोग भी नहीं करते। वह बालक घर के बाहर ही बरामदे में एक तख्त पर ही रहता है। घर के लोग उसे खाना भी दूर से फेंककर ही देते हैं। इसका कारण है कि जिसकी उसने 'कपाल-क्रिया' की है वह आसक्तियों के कारण उसकी देह में तेरहवीं पर्यन्त, प्रेत बनकर वास करेगा। इसीलिए उसके घर के लोग भी उसके साथ ऐसा व्यवहार

करते हैं। 'दसवां' हो जाने पर जब 'ब्रह्म-भोज' के लिए ब्राह्मण खिलाये जाते हैं तो उसमें 'कपाल-क्रिया' करने वाले पुत्र को भी ब्राह्मणों के साथ ही बैठाकर खिलाया जाता है। इसका कारण है कि कपाल-क्रिया करने वाले की देह में व्याप्त वह प्रेत भी सभी प्रकार से तृप्त होता हुआ योनि गमन करे। दसवां बीत जाने के उपरान्त चिता की भस्मी को, जो एक कलश रूपी पात्र में इकट्ठा की जाती है उस भस्मी के पात्र में लोग बड़े गौर से देखते हैं। कौन सा चित्र बना है। उस चित्र के अनुरूप किस योनि में वह गया है ? ऐसा वे लोग मानते हैं। स्पष्ट है कि 'दसवें' तक वह कहीं नहीं गया था। तभी तो दसवें के उपरांत भस्मी में चित्र देखने की परिपाटी है।

ब्राह्मणों को भोजन ''पिण्ड-दान'' तथा अन्य प्रकार के दान की व्यवस्था भी आदि काल से धर्म ने दी है। इसके पीछे भी बड़े ही सूक्ष्म वैज्ञानिक कारण हैं। जैसे दूर देश में आपके स्वजन की दुर्घटना में मृत्यु हो जाती है। आप को एक आभास सा लगने लगता है। अपशकुन शरीर में तथा बाहर होने लगते हैं। उसका कारण है (टैलीपैथी)। आत्मा से आत्मा को राह होती है। दुर्घटना के साथ ही आत्मस्थ डोरियों से बंधे होने कारण अपशकुन की सूचना तत्क्षण मिलने लगती है। उसी प्रकार जिन आसक्तियों के कारण आपका स्वजन ''पितृयान'' से गमन कर गया है। वह आसक्तियां मृत्यु के उपरांत भी नहीं टूटती है। जिन आसक्तियों के कारण वह भटका है। उन्हीं आसक्तियों के कारण वह पुनः अपने ही परिवार में नवजात शिशु के रूप में प्रकट हो सकता है। इसलिए उसके स्वजन उन्हीं आसक्तियों की डोरियों की पुष्टि करते हुए, उसका ध्यान करें। उसके हेतु दान दें तथा तापस लोगों को भोजन आदि देकर उनका आशीर्वाद लें। जिससे वह पुनः अपने परिवार में लौट सके। जिन डोरियों ने भटकाया था उसे, वे डोरियां उसे लौटा भी सकती है।

दूसरा कारण ये भी विशेष है कि जब तक मैं अपने मृतक स्वजन के लिए आस्थावान नहीं हूँ, मेरी संतान भी मेरे प्रति निष्ठावान नहीं हो सकती है। आस्था ही समाज को, परिवार को, सुखद, वरद और पुष्ट कर सकती है। जब मेरे बालक मुझे अपने बीत गये स्वजनों के प्रति पूर्ण आस्थावान और भक्त पाते हैं तो उनके मन में मेरे प्रति भी निष्ठा और आस्था प्रबल हो उठती है।

कल्पना करें कि किसी व्यक्ति के लड़के के साथ भयंकर दुर्घटना हो गयी हो। वह व्यक्ति आपके पास बैठा हुआ हो। इस बात से वह अनभिज्ञ है। तथा कोई व्यक्ति आकर उसे सूचना दे दे, कि उसका पुत्र भयंकर दुर्घटना में बुरी तरह घायल हो गया है। यह सुनते ही उसका पिता बेहोश हो जाता है। प्रश्न उठता है? कि ठोकर

लड़के को लगी, बेहोश पिता हो गया ? स्पष्ट है कि अपने पुत्र में आसक्तियों के कारण जो ठोकर पुत्र को लगी, वही झटका सूचना के साथ पिता को भी लगा यदि पड़ोसी के साथ ये दुर्घटना होती तो उसे इतना दुख नहीं होता। यदि किसी अजनबी के साथ वह दुर्घटना होती, तो उसे बिल्कुल कष्ट नहीं होता। जहाँ-जहाँ आसक्तियों की डोरियों से बंधा हैं वहां उसे सुख-दुख और पीड़ा का भागीदार बनना पड़ता है। अपने शरीर के प्रति उसकी मोह और आसक्तियां पत्नी और पुत्र की आसक्तियों से कहीं अधिक ही होती है। देह की आसक्ति मरने के बाद भी, जीव छोड़ नहीं पाता। शरीर की अवस्था के साथ उसका भटकाव तथा नर्क आरम्भ होता है। भले 'कपाल-क्रिया' के द्वारा लड़के ने उसे देह से अलग कर दिया, परन्तु अपनी आसक्तियों के कारण वह जलती हुई देह के साथ जलन को अनुभव करता है। जब वह भस्मी पेड़ के तनों में लौटती है। पेड़ बन जाती है। बढ़ई उस पेड़ को समय के साथ काटता है। अपनी आसक्तियों के कारण उस आरे की चुभन को जीव भी महसूस करता है। जब बढ़ई लकड़ी को काटता है तो आसक्तियों के आरों से, प्रेतावस्था को प्राप्त हो, जीव भी काटता है। चूल्हें में जलता हुआ लकड़ी के साथ जलता भी है। वह तेल बनकर तो कढ़ाई में खोलता भी है। आसक्ति की डोरियां केवल मनुष्य की योनि में ही टूट सकती है। मनुष्य योनि से छूटा जीव अपनी इन आसक्तियों को डोरियों को कभी नहीं छुड़ा पाता है। जैसे औलाद के साथ दुर्घटना होने पर, वह दुर्घटनाग्रस्त होता है। ऐसे ही जहां-जहां उसका शरीर भटकता है, जिन-जिन रूपों में भटकता है। वह प्रेतावस्था में उन्हीं के साथ भटका करता है। शरीर जलने पर वह भी जलता है, कटने पर वह कटता है, खौलने पर वह खौलता भी है। यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक किसी दूसरी आसक्ति के द्वारा वह किसी जीव योनि को प्राप्त न हो जाये। इसलिए उसके स्वजन पिण्डदान और सभी प्रकार के दान और बरसी, श्राद्ध आदि बारम्बार करते हैं कि यदि वह किसी घुटन में पड़ गया है, तो हम एक बड़ी आसक्ति बनकर, एक बड़ी मोटी रस्सी बनाकर उसे बांधकर, लौआ लें।

यथा :-

''ये निखाता ये परोप्ता, ये दग्धा ये चोद्धिता।
सवस्तिनग्र आवह, पितृन हविषम् अन्तये।। (अथर्ववेद)

दूसरा मार्ग जो ''उत्तरायण'' मार्ग है जिसका ''देवयान'' है। उसे वेद ने पांच महा वाक्यों के रूप में गाया है, जिसे संक्षेप में आपके सामने रख रहें हैं, वेद की भावनाओं के साथ।

तत् त्वमसि :-

वह तुम हो !

जाना मैने; पहचाना मैने-और अपनी धारणा का सांचा बिठाता चला गया। बना के शरीर जैसा कमरा; सिर के जैसा गुम्बद लगा; जटाओं जैसा कलश सजा-आत्मा जैसी मूर्ति बिठा दी ! बन गये तुम; बना घर तुम्हारा ! मेरी धारणा का साकार ! मेरे ही शरीर आत्मा के प्रतिबिम्ब ! मेरे देव ! मेरे अनन्त देव ! शत-शत अभिनन्दन तुम्हारा !!! तुम हो सर्वशक्तिमान ! त्रेलोकेश्वर !! घट-घट वासी ! मेरे प्यारे राम ! हे कृष्ण । हे माधव ! हे सखा ! तुम ही सम्पूर्ण जगती के आदि कारण हो ! जगमग दिव्य रूप तुम्हारा है ! यही धारणा है मेरी ! यही साकार है मेरा मेरी धारणा के सांचे में - मेरे इष्टदेव --- मेरी कल्पना का मेरा ही स्वरूप पा रहे हो !

तत् त्वम् असि ! वह तुम हो !!

अपने ही प्रतिबिम्ब का बनाया देवालय !! घर तुम्हारा !! धारणा मेरी -- स्वरूप तुम्हारा ! फिर होकर आत्मविभोर तुम्हें गाता चला गया ! गाया संग मेरे--खेत खलिहानों ने ! जंगल रेगिस्तानों ने नदियों में समायी स्वर लहरी हवाओं के संग - झूम-झूम कर गाने लगी तुमको ! होकर बादलों पर सवार मैंने गगन में गाया संग मेरे -- खेत खलिहानों ने जंगल रेगिस्तानों ने ! नदियों में समायी स्वर लहरी, हवाओं के संग झूम-झूमकर गाने लगी तुमको ! होकर बादलों पर सवार, मैने गगन में गाया तुम्हें ! तुम्हें सुलाया, तुम्हें जगाया मैंने ! धारणा का जीवन देकर हर हर रूप में पाया मैने ! मेरे अधिष्ठाता ! देवाधिदेव ! तुम्हें शत-शत नमन् !!

तत् त्वम् असि ! वह तुम हो !

मेरी धारणा के पवित्र आनन्द ! गाये आत्म विभोर गीत तुम्हारे ! तुम बने सृष्टा मेरे - और पाया स्वरूप मुझसे ! यही लीला है तुम्हारी ! हे इष्टदेव ! हे सृष्टा !! हे माधव ! हे सखा ! मेरे ही शरीर आंगन में रास कर रहे बिहारी !

सोता रहा मैं थक-थक कर ! न सोये तुम ! मेरे बनाये देवालय में, मेरी ही आत्मा के प्रतिबिम्ब, तुम जीवन्त हुये। और अमर हो गये। फिर देवालय से देवालय; प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्ब; उत्पन्न होते चले गये ! मेरी ही परछाईयां प्रसवित हो निरन्तर बढ़ती चली गयीं। नये रूप; संग नये; नई सृष्टि के अमर देवता - मेरी ही धारणा के साकार स्वरूप ! तुम एक से असंख्य हुये। हे अमर युग सृष्टा ! मेरे पुनीत !! शत शत नमन !

तत् त्वम् असि ! वह तुम हो !

विनाश की रात्रि के उपरान्त। उठकर ढूंढ़ा तुम्हें ! पहाड़ों में ! कन्दराओं में ! खण्डहरों में ! न पाया कही ! मिले तुम मुझे अबोध शिशु की भोली मुस्कान

में ! मेरे गोपाल ! मेरे कन्हाई !! माखन चोर ! तब जाना मैने घर तुम्हारा ! बिस्तर तुम्हारा !! विनाश की प्रत्येक रात्रि के उपरान्त तुम्हें ढूंढ़ लेता हूँ अब ! कोमल रक्ताभ अबोध होंठ ही बिस्तर हैं तुम्हारा ! मुखरित होती मधुर मुस्कान अंगड़ाई है तुम्हारी ! फिर नेत्रों की चंचलता के साथ नृत्य करते तुम युग को मोहित कर लेते हो। मेरे माधव ! मेरे गोपाल ! मेरे गोविन्द !!

तत् त्वम असि ! वह तुम हो !

मेरी धारणा के स्वरूप ! मेरे इष्टदेव ! मेरे ही प्रतिबिम्ब ! मेरी आस्था का अमर सांचा ! मेरे जीवन के मात्र लक्ष्य !

वह तुम हो ! तत् त्वम् असि ! तत् त्वम् असि !

तेजोऽसि :-

तेज हो !

धारणा का सांचा बना, ध्यान के मार्ग से खोजने लगा मै तुमको; अपनी ही धारणा के सांचे में -- और मिले तुम ! हुआ साक्षात्कार ! देखा जगमग ज्योर्तिमय स्वरूप तुम्हारा ! देखता ही रह गया ! देखता ही रह गया !! "तत्सर्वितु-सहस्त्रों सूर्यो का प्रकाश !

तेजोऽसि ! तेजोऽसि !!

भले प्रकाशित हों सहस्त्र सूर्य, मुर्दा आंख को रोशनी कहां ? तेरे ही तेज से देख सकीं मुर्दा आंखे ! युग से युग तक ! मौत की खामोंशी को जीवन के कोलहाल में लौटा सके। -- मात्र तुम ! हार गय सब सूर्य ! ज्ञान !! विज्ञान !!

तेजोऽसि ! तेजोऽसि !

हे मेरी धारणा के साकार ! हे मेरे अनन्त देव !! तुम सत्य रूप प्रकाश हो! अमरत्व रूप प्रकाश हो ! जीवन रूप प्रकाश हो ! हे अधियज्ञ !! हे धारक - सृजक-संहारक ! तुम ही तेज हो ! धारणा के सांचे में ध्यानस्थ हूँ मैं !

तेजोऽसि ! तेजोऽसि !!

तत् त्वमसि ! तत् त्वमसि !!

वह तुम हो ! वह तुम हो !!

मेरी धारणा ! मेरे ध्यान !! हे इष्टदेव !!

शत-शत नम ! हे राम ! हे कृष्ण ! हे माधव !!

एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति !

एक ही ब्रह्म, दूसरा न कोई !

पाया जब ज्योर्तिमय दिव्य स्वरूप तुम्हारा; झिलमिल-झिलमिल हो उठा अन्तर्मन ! रोम-रोम में प्रकाश की अनुभूति है ! जगमग यज्ञ हो रहा है। तब -

आत्म कुण्ड की स्निग्ध ज्वालाओं में ! पाया मैंने तुमको ! चल दिया हूँ मिलने तुमसे ! पाया मैंने तुमको ! चल दिया हूँ मिलने तुमसे ! धारणा के सांचे में, ध्यान के मार्ग से ! प्रकाशित कर दिया तुमने मार्ग मेरा ! नहा रहा हूँ मैं हिरण्यधाराओं में !

कैसी लीला है तुम्हारी ! जहाँ देखता हूँ, तुम्हे पाता हूँ ! माता तुम्ही हो, पिता तुम्ही हो ! भाई तुम्ही हो !, सखा तुम्ही हो ! तुम्ही हो । मित्र, शत्रु, नही तुम्ही हो ! तुम्ही हो ! !

पाया मैने घट-घट वासी रूप तुम्हारा ! प्रत्येक घट के आत्मा, जीवन तेज! मात्र तुम्हीं हो ! मात्र तुम्ही !!

एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति !

एको कृष्णाः द्वितीयो नास्ति !!

मिट गये सब भ्रम के रिश्ते ! जल गयी भ्रान्तियां सारी ! पहन ज्वाला (गेरूवा वस्त्र) बैठ गया हूँ सम्मुख तुम्हारे ! सारी चिताये जला दी हैं। जल गया हूँ एक चिता में मैं भी। अब तो तू ही तू है। तू ही तू है! हे इष्ट ! हे देव ! मेरी धारणा के प्रतीक !! ध्यान के लक्ष्य ! मात्र लक्ष्य !! एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति !!

सम्मुख हो तुम्हारे ! धारणा के सांचे में, ध्यान के पंखो से उड़कर समाधिस्थ हो गया हूँ ! सम्मुख तुम्हारे ! सम्मुख तुम्हारे !!

तत् त्वमसि !
मेरी धारणा !
तेजोऽसि !
मेरे ध्यान !
एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति !
मेरी समाधि !!
अहं ब्रह्मास्मि :-
मैं ब्रह्म हूँ !

समाधिस्थ हो गया जब सम्मुख तुम्हारे ! देखा समीप से जाना समीप से! पहचाना समीप से - तो हर्ष से कह उठा - मैं भी वहीं हूँ ! मैं भी वही हूँ !! बैठा हूँ सम्मुख अपने ही ! देख रहा हूँ - अपने ही सांचे में - प्रतिबिम्ब अपना ! तब जाना - मैं ही शरीर रूप माता हूँ ! आत्मा रूप पिता हूँ ! शरीर सामग्री को आत्म-कुण्ड में यज्ञकर्ता - मैं ही तो हूँ। शरीर सामिग्री को आत्म-कुण्ड में यज्ञ करने चल दिया हूँ। कर रहा हूँ यज्ञ सम्पूर्ण पुण्य-पाप का; सत्य-असत्य का; शरीर सामिग्री का-- आत्मा-यज्ञ-कुण्ड में ! होकर यज्ञ-हिरण्य धाराओं में लौटती यज्ञ सामिग्री का पुनीत जल-ढलता जा रहा है धारणा रूपी सांचे में ..... उत्पन्न हो रहा हूँ मैं :-

प्रसव की पीड़ा है यह;

प्रसव का आनन्द है; मेरे ही शरीर में -- जन्म ले रहा हूँ मैं !

यज्ञ द्वारा तेज में परिणित हो गया सामिग्री रूपी जल, ध्यान के मार्ग से, धारणा के सांचे में ढलता जा रहा है ! मेरे ही शरीर में, मैं स्वयं पुत्र बन जन्म ले रहा हूँ। मैं ही माता हूँ ! मैं ही पिता हूँ ! मै ही पुत्र हूँ ! मैं ही मन, इन्द्रिय, बुद्धि आत्मा हूँ। सम्पूर्ण का अद्वैत स्वरूप मैं जन्म ले रहा हूँ - मेरे शरीर में - अहं ब्रह्मास्मि !!

पीड़ा और आनन्द की अनुभूतियों में मैं यज्ञ कर रहा हूँ - मैं यज्ञ हो रहा हूँ - मेरे सांचे में, ... मैं ढल रहा हूँ --

तत् त्वमसि ! धारणा मेरी ! तेजोऽसि ! ध्यान मेरा !

एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति ! समाधि मेरी ! अहं ब्रह्मास्मि ! यज्ञ मेरा !!

सोऽहं :-

मुर्गी के अण्डे का जल ! अण्डे के भीतर - धारणा के सांचे में - ध्यान के द्वारा धीरे-धीरे सिमटता चलता है; जमता चलता है और सांचे का स्वरूप लेता चूजा बन जाता है। फिर एक दिन अण्डे के कपाल को फाड़-कमजोर जड़खड़ाती टाँगो से चूजा बाहर निकल अपने कोमल पंखों को फड़फड़ाता है !

अपनी इष्ट रूपी धारणा के सांचे में, ध्यान का स्वरूप ग्रहण करता, हिरण्य जल-धीरे-धीरे जमने लगता है ! यज्ञ का पकाया जल धारणा रूपी सांचे में ईष्ट देव का स्वरूप पाने लगता है। जिसे भजता रहा था कल तक-आज उसी का स्वरूप ग्रहण करता अपने ही शरीर में जन्म पाने लगा हूँ ! कल तक जो मेरा इष्ट था ! आज वह "मैं हूँ !" सोऽहं ! सोऽहं !!

ढल गया मै अद्वैत, इष्ट ज्योर्तिमय अमर स्वरूप में ! हो गया जब स्वरूप पूर्ण मेरा ! एक रोज- "ब्रह्म" "अण्ड" (ब्रह्माण्ड) रूपी कपाल को फाड़ मैं सांचे से हुआ बाहर-ली अंगड़ाई-जगमग ज्योर्तिमय झिलमिलाते स्वरूप को देख मुस्कराया मैं-और सोऽहं ! का नाद करता सम्पूर्ण में लय हो गया ! सर्वत्र हो गया ! खिलौना खिलाड़ी हो गया ! उपासक उपास्य हो गया !!

तत् त्वमसि ! मेरी धारणा !! "तेजोऽसि !" मेरा ध्यान !

"एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति !" समाधि मेरी ! अहं ब्रह्मास्यि" यज्ञ मेरा!

"सोऽहं !" मेरा योग !

उद्‌देश्य और अवस्थाएं

सनातन-धर्म ने प्रकृति को ही धर्म का मूल-ग्रन्थ माना तथा प्राणी मात्र की समर्पित सेवाओं को ही जीवन का मार्ग बनाया। प्राणी मात्र की समर्पित सेवा ही जीवन का मूल उद्‌देश्य हैं पिता बाग का मालिक है। मैं उसका बेटा हूँ। मैं बाग का माली हूँ। पिता बाग को बना रहा है, उसको संवारना ही मेरे जीवन का मूल उद्‌देश्य है। जिस प्रकार माली बाग में पेड़ों की सेवा तो करता ही है, परन्तु पारिश्रमिक की कामना वह बाग के मालिक से ही करता है। पेड़ों से वेतन नहीं मांगता है, मालिक से ही वेतन की इच्छा करता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण सचराचर की सेवाओं को इच्छा-रहित होकर मुझे धारण करना है। माली की भांति ही मुझे अपनी सेवाओं का वेतन भी संसार के मालिक से ही मांगना है। यही मेरे जीवन का मूल उद्‌देश्य है।

इसी उद्‌देश्य को मन्दिर और मूर्ति के रूप मैं दिखलाया गया है। ईश्वर आत्मा होकर घट-घट वासी है। वे जीव मात्र की देह में वास करते हैं। इसी सत्य को नाना देवी-देवताओं की कल्पनाओं में साकार किया गया है। गणपति के मन्दिर में 'चूहा' है। कार्तिकेय के मन्दिर में मुर्गा और मुर्गी हैं। गदर्भ (गधा) शीतला देवी के मन्दिर में है। सूर्य के साथ अश्व हैं। इन्द्र के साथ हाथी है, तो ''भैंसा'' भी यमराज के साथ है। नाना नदियों रूपी देवियों की मूर्तियों के साथ, नाना जलचर, वाहन के रूप में दिखलायें गये हैं। गाय ''कृष्ण'' के साथ है, 'बैल' महाशिव के मन्दिर में खड़ा है। 'शेर' और 'चीता' भी देवी के मन्दिर में वाहन के रूप में दर्शाये गये हैं। इसका तात्पर्य है कि 'चूहे' से लेकर 'शेर' तक सभी पशुओं को सुखद जीवन देना ही मनुष्य योनि का मूल उद्‌देश्य है। जीवन के उद्‌देश्यों को, मन्दिर और मूर्ति के साथ जोड़कर, आस्थाओं की डोरियों में उद्‌देश्यों को कसा गया है। जब तक नियम आस्था के साथ जुड़ते नहीं, सहज मानव मस्तिष्क उसकी अवहेलना करता है। इसीलिए पूर्ण मनोवैज्ञानिक भारत के संत प्राणी मात्र की समर्पित सेवाओं के उद्‌देश्यों को धार्मिक आस्थाओं के साथ बांधते रहें हैं। लगभग सभी सद्‌गन्थों में तथा धार्मिक ग्रन्थों में इसी उद्‌देश्य को बारम्बार दुहराया गया है, यथा :-

ऋग्वेद में :-

''देवयन्तो यथा मतिमच्छा विद्‌द्वसुँ गिरः ।
महामनूषत श्रुतम् ।। ''

(देवयन्तो) आत्मवत् हो गया जो (मतिमच्छा) जिसकी मति आत्मा में व्याप्त होकर निर्मल हो गयी, (विद्वसुं गिरः) जिसके आचरण में, व्यवहार में, कर्म की सम्पूर्ण अग्नियों में, विद्वता में, और वाणी में, एक आत्मा विराज गया (महामनूषतमं) वही अनन्त परमेश्वर को प्राप्त हुआ (श्रुतम्) ऐसा श्रुतियां कहती हैं।

''मन में ध्यान, हाथ में सेवा,
चल मेरे देवा।।''

कृष्ण की कथाओं में भी इस सत्य को बड़े ही मनोरम ढंग से प्रदर्शित किया गया है। भगवान 'वासुदेव' किशोरावस्था को प्राप्त है। ग्वाल-बालों के साथ गौवें चराते हैं। 'कंस' और उसके असुरों का अत्याचार बढ़ता ही जा रहा है। ऐसे समय में 'कृष्ण ग्वाल बालों के साथ अस्त्रशस्त्र धारण करते है । वे अपने साथियों को संबोधित करते हुए कहतें हैं । ''हम अस्त्रशस्त्र संकल्प के साथ धारण करते हैं । प्राणी मात्र की समर्पित सेवा के लिए ही, तथा निरीह और सताये हुये जीवो की रक्षा के लिए, हम युद्ध करेगें । दीन, अबला तथा निरीह पशु पक्षियों को जो सताना चाहेंगे, हम उन हाथो को ही मिटा देगें । हम अस्त्रशस्त्र का प्रयोग कभी भी सत्ता के मिथ्याभिमान के लिए अथवा राज्य की सीमाओं के विस्तार के लिए, प्रयोग में नही लायेंगे । परमेश्वर सम्पूर्ण सचराचर के पिता हैं । वे ही सचराचर रूपी वाटिका को प्रकट कर रहे हैं । हम उनके पुत्र हैं, उनकी वाटिका की रक्षा करना हमारा पहला धर्म और कर्तव्य हैं, तथा हमारे जीवन का मूल उददेश्य हैं ।''

श्री कृष्ण ने अपने संकल्प के अनुरूप ही जीवन पर्यन्त भयंकर युद्ध लड़े। दन्तवक्त्र, भौमासुर, जरासंध आदि असुर राजाओं के साथ वे निरन्तर युद्ध में जूझते रहे । असुर राजा; निरीह लोगो को पकड़कर गुलाम बनाते थे । और उन्हें असुर राज 'काल-यवन' के हाथ बेचते थे । 'काल-यवन' उनसे पिरामिड बनवाते थे । निरीह अबलाओं को असुरो की विषय-वासनाओं के लिए पकड़-पकड़कर बेचा जाता था । कृष्ण ने सारे युद्ध असुरत्व को मिटाने के लिए ही किये । उसने 'काल-यवन' को ही नही मारा, वरन् 'मिडिल-ईस्ट' को पार करते हुए पश्चिमी देशों के राज्यों को भी ध्वस्त कर दिया । यही कारण हैं कि चार हजार बी.सी. (क्राइस्ट के जन्म पूर्व) के उपरान्त न तो कोई पिरामिड बना और न ही कोई असुर राजा मरने के बाद ममी बना। मरने के बाद राजा को ममी बनाने के पीछे यही असुर विचारधारा थी, कि शुक्राचार्य आयेगा और संजीवनी मन्त्र से हमारे राजा को जीवित कर देगा।

''वार आफ एटलान्टिस'' युद्ध भी आज से लगभग छः हजार वर्ष पूर्व अर्थात् चार हजार बी.सी. पूर्व हुआ है। आज भी सारा पाश्चात्य विश्व उस युद्ध

की कथा को याद करता है। परन्तु वह युद्ध क्या था, उसमें कौन लोग लड़े और क्यों लड़े ? इसका स्पष्ट ज्ञान किसी के पास नहीं है। सनातन धर्म के अतीत के ग्रन्थों में गुलाम बनाने वाली जातियों के समूह मिटाने के साथ, कृष्ण ने संकल्प के साथ, सारी पृथ्वी पर युद्ध की कथाएं जुड़ी हुई हैं। इन कथाओं से स्पष्ट है कि "वार आफ एटलान्टिस" वस्तुतः असुर विचारधारा के विरूद्ध कृष्ण का उन पर आक्रमण था, इस युद्ध के भयंकर परिणाम हुए। इस युद्ध की भयंकरता को इस तथ्य से आंका जा सकता है। इस युद्ध के उपरांत, लम्बे काल तक, पाश्चात्य देशों का इतिहास लुप्त हो जाता है। मिडिल-ईस्ट लम्बे समय तक जनविहीन रहता है। एक लम्बे काल के उपरांत खानाबदोश जातियां एक बार फिर इसे बसाती हैं जन-जीवन से पूर्ण करती हैं। पिरामिड बनाने वाली जातियों का इतिहास ही मिट जाता है।

इस सारे युद्ध में कृष्ण की सेनाएं न तो किसी देश को अधीन देश बनाती हैं और न ही किसी देश के मनुष्य को गुलाम बनाती हैं। कृष्ण और उसकी सेनाएं केवल गुलाम बनाने वाली जातियों को मिटा, गुलामों को स्वतंत्र करके लौट आती हैं। कृष्ण से पूर्व "रामचन्द्र" ने ही ऐसा किया था। असुर राज रावण को मिटाकर लंका को स्वतंत्र राष्ट्र घोषित करके "रामचन्द्र" भी लौट आये थे। बीसवीं शताब्दी में स्वतंत्र भारत की सेनाएं भी "ईस्ट पाकिस्तान" को स्वतंत्र "बंगलादेश" घोषित कराकर इसी मान्यता के साथ लौट आयी। इनकी पुनरावृत्ति भी "श्रीलंका" में पुनः हुई।

जब भगवान "श्रीकृष्ण" सन्यासी हो गये। देविका नदी के किनारे वे तपस्या कर रहे थे। उनके अतरंग मित्र उद्धव जी उनसे मिलने के लिये गये, तो वे दुखी हो उठे। सन्यासी कृष्ण ने उन्हें समझाते हुए कहा, 'उद्धव ! दुःख मत करो। मेरे जाने के क्षण हैं। सभी को जाना होता है। लीला समापन के क्षण हैं ये।"

उद्धव ने पूछा, "वे वीर यदुवंशी जो आपके साथ निरन्तर युद्ध लड़ते रहे, वे आपके बिना अनाथ हो जायेंगे ? आपके बिना उनका क्या होगा ?"

भगवान ने उत्तर दिया, "हे उद्धव ! वे सब समाप्त हो जायेंगे। सागर के किनारे की घास मार देगी उनको। असुरों से संग्राम करते-करते वे स्वयं असुरत्व में लिप्त हो गये हैं। प्राणी मात्र की समर्पित सेवाओं को भूल वे सब उच्छृंखल और उद्दंड हो उठे हैं। उद्धव वे सब नष्ट हो जायेंगे।"

"ऐसा क्यो ?"

उद्धव ने पूछा। भगवान उन्हें सविस्तार समझाते हुए कहते हैं, "उद्धव ! परमेश्वर ने जब ये धरती बनायी थी। पेड़-पौधे और पशु-पक्षियों को इस धरती

पर प्रकट किया। मनुष्य को भी उत्पन्न करके परमेश्वर ने कहा, "कि तू मेरा बेटा बन, मेरी राह आ। जिस बाग को मैं बना रहा हूँ, तू उसे संवार दे। उद्धव ! जब माली ही बाग को उजाड़ने लगे। बाग के पेड़-पौधों को और पशु-पक्षियों को मिटाने लगे। उजड़ जायेगा जब बाग तो बाग का मालिक भी तो यही कहेगा कि जब बाग ही नहीं तो मालियों का क्या प्रयोजन ? मालियों को उजाड़ दो। उद्धव ! अब मालियों के उजड़ने की बारी है। उद्धव ! ये प्रकृति का नियम है। जब भी मनुष्यता जीवन के मूल उद्‌देश्य से विमुख होगी, उसकी उपलब्धियां ही उसके विनाश का कारण बनेंगी।"

भगवान "श्रीकृष्ण" के वे शब्द आज भी हमारे जीवन में कितने अकाट्य सत्य हैं। सागर के किनारे की घास ? अर्थात् डूबते को तिनके का सहारा। जीवन के उद्‌देश्यों को खोकर निरुद्‌देश्य जीवन में जो हम तिनके बटोरते हैं। संतति, सम्पत्ति और सहारे के रूप में। क्या ये सच नहीं हैं कि उन तिनकों की चिन्ता ही हमारे जीवन में दुःख, पीड़ा, वेदना और मृत्यु का कारण बनती है ? मैं सदा अपनों की चिंता में ही तो मरता हूँ।

कृष्ण ने कहा था कि *जब भी मनुष्य सृष्टि के प्रकृति प्रदत्त उद्‌देश्यों से विमुख हो जायेगा, उसकी उपलब्धियां ही उसके विनाश का कारण बनेंगी।* आज भी ये शब्द एक राष्ट्र के लिए, एक समाज के लिए और एक व्यक्ति के लिए अकाट्य सत्य हैं। यदि जीवन में उद्‌देश्य होता तो परिवार न डसता मुझे, समाज पीड़ा न देता मुझे, हम राष्ट्र के रूप में विचलित न होते। आदिकाल से सनातन-धर्म ने सभी स्तरों पर जीवन के उद्‌देश्यों को सर्वोपरि स्थान दिया है।

अध्यात्म जगत में मनुष्य के बौद्धिक स्तर पर पांच अवस्थायें मानी गयी हैं। जिस प्रकार वर्णाश्रम धर्म में, जन्म काल के साथ, अज्ञान की शूद्रता है। गुरूकुल, वैश्यवृत्ति का स्वरूप है। गृहस्थ, क्षत्रिय का संग्राम है। वानाप्रस्थ, ब्रम्हज्ञान और समर्पित सेवा है तथा इसके उपरांत सन्यास है। उसी प्रकार अध्यात्म और जीवन को भी, इन्हीं अवस्थाओं के अनुरूप दिया गया है। "दशरथ जी" को चौथेपन में पुत्र रूप में भगवान "श्री राम चन्द्र" की प्राप्ति होती है। "नन्द जी" को भी चौथेपन में "कृष्ण रत्न" की प्राप्ति होती है। भगवान सदा चौथेपन को ही वरद् करते हैं तथा पांचवेपन को प्राप्त हो गये जीवन को परमेश्वर स्वयं अपने में मिला लेते हैं। यह सब समय से बद्ध नहीं है। वरन् मानसिकता से जुड़ी हुई अवस्थायें हैं। सनातन धर्म के सद्‌ग्रन्थ भी इन अवस्थाओं के साथ ही बंधे हैं। सनातन-धर्म ने बदलती हुई विभिन्न मनः स्थितियों के अनुरूप नाना प्रकार के ग्रन्थों की कल्पना को साकार किया है। अन्य धर्मों, सम्प्रदायों की तरह भेड़ चाल को सनातन-धर्म में

नहीं स्वीकारा गया है। दूसरे धर्मों में एक ही किताब को धर्म-ग्रन्थ का रूप दिया गया। सभी स्तरों पर खड़े लोगों को भेड़ों की तरह भीड़ बनाकर, एक किताब का अनुसरण करने का आदेश दिया गया। संदेह, तर्क, विचारों का आदान-प्रदान तथा चिन्तन की मनाही कर दी गयी। ग्रन्थ का अन्धानुकरण ही धर्म की राह बनी।

इसके विपरीत सनातन-धर्म ने संदेह, तर्क, वाद-विवाद तथा चिन्तन को सर्वोपरि स्थान दिया। प्रकृति को ही सनातन-धर्म का मूल ग्रन्थ मानते हुए, स्वतंत्र, प्रखर चिन्तन को धरती से व्यापकता और गगन की उन्मुक्तता प्रदान की। ये सारे धर्म-ग्रन्थ अध्यात्म के विश्वविद्यालय के रूप में प्रकट हुए। अन्तिम और अकाट्य मान्यता का ग्रन्थ प्रकृति ही बनी।

जीव की पांच मनः स्थितियों को स्पष्ट करते हैं। प्रथमावस्था उसकी अपरिपक्व अध्यात्म अवस्था है। जहां वह संसार और ईश्वर में, संसार को ही अधिक महत्वपूर्ण मानता है। उसकी पूजा, अर्चना और भक्ति यदि कोरा दिखावा मात्र नहीं, तो भी भौतिक उपलब्धियां का लोभ लिये है। वह पूजा और भक्ति के बदले में ईश्वर से कामना और इच्छाएं रखता है। उसकी अवस्था उस अबोध शिशु की तरह है। जिसे माता-पिता खिलौने तथा मिठाई का लोभ देकर पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजते हैं। पूर्ण मनोवैज्ञानिक भारत के संत ने विभिन्न मनः स्थितियों को जानते हुए मनुष्य की इन भोली अवस्थाओं का भी पूरा ध्यान रखा है। उस स्तर के धर्म-ग्रन्थ भी दिये हैं। जिनमें, भक्ति के बदले पारिश्रमिक, अर्थात् उपलब्धियां मिलने की व्यापक चर्चा है। सत्य नारायण की कथा, पुराणों की पूजा और व्रत आदि की कल्पना इसी उद्देश्य को लेकर की गयी है। पूजा और व्रत में मन वांछित फल पाने की कल्पना ठीक वैसी ही है, जैसी माता-पिता बालक को स्कूल भेजने के लिए खिलौना अथवा मिठाई का प्रलोभन देते हैं। यह अवस्था साधारण अवस्थाओं में सभी मनुष्यों में होती है। इसीलिए सनातन-धर्म में भी इस अपरिपक्व मनः स्थिति को व्यापक स्थान दिया गया है।

अगली अवस्था में ईश्वर और संसारिकता का समीकरण बदलने लगता है। मनुष्य स्वयं को जानने लगता है। उसकी अवस्थायें असत्य और अज्ञान से हटकर उसके अन्तर के सत्य में बंधने लगती है। भौतिकताओं में तथा बाह्य जगत की उपलब्धियों में, शक्ति और सामर्थ्य खोजने के बजाय, वह अपनी अन्तरात्मा में ही शक्ति और सत्य को खोजने लगता है। अध्यात्म जीवन का महत्व उसके जीवन में उभरने लगता है। जीवन की पुस्तक को जो वह स्वयं है, अध्यात्म की व्यापक धरोहर के साथ वह पढ़ने लगता है। ये उसकी दूसरी अवस्था होती है। इस स्तर पर भी अद्भुत विलक्षण ग्रन्थ सनातन-धर्म ने दिये हैं। श्रीमद्भगवतगीता,

उपनिषद् आदि उसके जीवन में अमृतमय ग्रन्थ हैं। इनके द्वारा वह स्थितिप्रज्ञ होता, जीवन के सच्चे सुख को आत्म शान्ति को प्राप्त होता है। उसके जीवन में एक सुखद ठहराव आता है। अतीत से वह लापरवाह होने लगता है। अथा भविष्य से निश्चिन्त हो जाता है। खिले हुए गुलाब के फूल की तरह अपनी सुगन्ध बिखेरता हुआ, सुखपूर्वक ब्रम्हाण्ड में जीने लगता है। भारत के अद्भुत वैज्ञानिक दृष्टा संत और मनीषीजन इस स्तर पर बहुत ही व्यापक सद्गन्थ, साहित्य और दर्शन छोड़ गये हैं।

तीसरी अवस्था उसके जीवन में तब आती है, जब उसके जीवन का वानाप्रस्थ-धर्म, ब्राम्हण और आरण्यक ग्रन्थों की भांति आरम्भ हो जाता है। उसका जीवन आश्रम की राह लेता है। मनसा, वाचा, कर्मणा, जीवन के सभी स्तरों पर, पूर्ण परिपक्व मानसिकता के साथ प्राणी मात्र को समर्पित होकर जीना, उसके जीवन की सुखद राह बन जाती है। असीम और व्यापक पिता परमेश्वर की भांति ही वह अनन्त और व्यापक होकर सचराचर के हित में जीने लगता है। ये उसके जीवन की तीसरी अवस्था है। हर होंठ की मुस्कराहट है वह, हर आंख की रोशनी है। ईश्वर जैसा सबका चहेता है, सचराचर का। उस स्तर पर भी अद्भुत आलौकिक ग्रन्थ सनातन-धर्म ने व्यापक रूप से दिये हैं। लगता है, जैसे सन्त और मनीषीजन बड़े व्यवहारिक रूप से मनुष्य की बदलती हुई मनः स्थितियों के भी विलक्षण दृष्टा थे।

चौथी अवस्था में वह सम्पूर्ण सचराचर को अपनी भीतर खोजने लगता है। सम्पूर्ण सचराचर उसमें समाया हुआ है। सारे ग्रह, नक्षत्र और गगन उसी में खो गये हैं। वह अपनी भीतर बैठने लगता है। "अहम् ब्रम्हास्मि" उसके जीवन की सम्मोहक, सुगन्ध तथा ज्योर्तिमय राह बन जाती है। सम्पूर्ण सचराचर उसमें समाया हुआ है। तथा सम्पूर्ण सचराचर में, सब में, वह स्वयं समाया हुआ है। ऐसे व्यापक स्वरूप को वह प्राप्त होने लगता है। सम्पूर्ण सचराचर को उत्पन्न करने वाली ज्योतियों का न्यासी बन, सन्यासी हो जाता है। "स" शब्द का अर्थ "ज्योति" है तथा जीव है। "सन्यासी" शब्द का अर्थ होता है जो सम्पूर्ण जीव मात्र का न्यासी अर्थात् ट्रस्टी है। इस अवस्था के लिए सनातन-धर्म के अलावा कहीं पर भी व्यापक तथा खुले दृष्टिकोण नहीं हैं। सारे विश्व में ऐसे ग्रन्थ सनातन-धर्म के अलावा कहीं पर भी नहीं हैं। वेद तथा नाना ग्रंथ इस स्तर को संशय रहित रूप से स्पष्ट करते हैं। इसी अवस्था में भगवान, दशरथ और नन्द के दाम्पत्य को वरद् करते हैं। ईश्वर सदा चौथेपन में ही प्रकट होते हैं। लीलाग्रन्थों में भी चौथेपन की कल्पना परोक्ष रूप में यही रही है।

पांचवी अवस्था उसकी, पाठशालाओं से ऊपर उठकर, प्रकृति रूपी

विश्वविद्यालय में लौट आती है। यहां पर मूल-ग्रन्थ मात्र प्रकृति ही रह जाती है, जिसका वह स्वयं अभिन्न अंग है। उसके मन में तड़प उठती है। "इस शरीर रूपी आश्रम की पंगुता में तू कब तक जियेगा, रे सन्यासी ?" समय के साथ ये मंदिर टूटकर, लौटकर प्रकृति हो जायेगा। तू कब तक इसमें आश्रय पायेगा ? हाथ नहीं है तो तू कुछ उठा नहीं सकता। पैर नहीं हैं, तो तू चल नहीं सकता। आंखे नहीं हैं, तो तू देख नहीं सकता। इतने अधिक दीन और पंगु जीवन को आज तू अनन्त ज्योतियों में क्यों न बदल लें? तुम्हारा पिता परमेश्वर अजर-अमर अविनाशी है। वह किसी का आश्रित नही है, वरन् सबका आश्रयदाता है। पुत्र ही तो पिता का स्थान लेता है। पुत्र ही तो पिता के अनुरूप होता है। चल तोड़ आज इस आश्रय की सीमाओं को। अपने पिता अनन्त की भांति अनन्त होजा। सोऽहम् का नाद कर, सबमें लय हो जा। आश्रय की पंगुताओं को तोड़ सबका आश्रयदाता होजा। सनातन-धर्म में पांचवा स्तर रहस्यात्मक ढंग से सारे ग्रन्थों में समाया हुआ है। यह बड़ी विचित्र बात है कि जिस धरातल पर कोई किताब नहीं होनी चाहिए थी, तथा सनातन-धर्म के सारे ग्रंथ, परोक्ष रूप में पांचवे धरातल की ही व्यापक रूप से पुष्टि करते हैं। कौन है ? इस राह पर जाने वाले, कभी लौटते नहीं हैं। फिर भी यहां जाने कैसे यह अद्‌भुत आलौकिक कल्पना सनातन-धर्म के सभी ग्रन्थों में परोक्ष रूप से, तथा कहीं पर स्पष्ट और व्यापक रूप से परिलक्षित होती है। लगता है, जो लौटते नहीं हैं, उन्होंने लौटकर इन ग्रंथों को सींच दिया है।

सनातन-धर्म के इस व्यापक दृष्टिकोण को गुलामी के अन्तरालों ने झकझोर पर रख दिया। विश्वविद्यालय को उसके सर्वांग व्यापक रूप में न समझने के कारण अज्ञान के अंधेरों से, साम्प्रदायिकता उभरने लगी। नदी तो निर्वाध निरन्तर बहती रहती है। उसके जल पर कभी ठप्पा नहीं रहा, मोहर नहीं लगी। उसी नदी के जल से भरा, हर एक लोटा, वक्त के साथ सम्प्रदाय बन, भोली मानवता को और सरल, सहज मस्तिष्क को भ्रमाने तथा संकीर्ण बनाने लगा। इस भटकाव में गुलामी का बहुत बड़ा योगदान रहा है। गुलामी के साथ ही इस देश की गुरुकुल व्यवस्थाएं समाप्त हुई। ऋषि, तपस्वी और मनीषी निरपराध मारे गये, विश्वविद्यालय धू-धूकर जले। जिस युग की ये बात है उस युग में कागज की कल्पना पैदा नहीं हुई थी। सारा साहित्य भोजपत्रों और ताम्रपत्रों में विश्वविद्यालयों में संकलित रहता था। विज्ञान के भण्डार, विश्वविद्यालय धू-धूकर जले। सारे साहित्य जलकर राख हो गये। अध्यात्म अकेला ही बचा और श्रुति और स्मृति होता हम तक पहुंच पाया। इतिहास, भूगोल, समाज शास्त्र, ज्ञान और विज्ञान के ग्रन्थ लुप्त हो गये। सभी विधाओं को जब इतिहासकार धर्म-ग्रंथ में ढूंढ़ने लगे, तो उनकी इस खोज ने कुछ

नयी भ्रान्तियां, एक गलाघोटूं घुटन और ढेर सारे संदेहों को और अधिक जन्मा। जिसके कारण आज अध्यात्म ग्रन्थों पर भी प्रश्न चिन्ह लगने लगे हैं। समाज को अमृत देने वाली परम्परायें भी आज गन्दी और घिनौनी सी नजर आने लगी हैं। हमारे तथाकथित समाज सुधारक और राष्ट्रीय नेता उन्हीं को तमाशा बनाकर बहुसंख्यक लोगों को अपमानित कर रहें हैं।

अध्याय – ६

सनातन-धर्म और नारी

सनातन-धर्म ने नारी को पुरूष के समान तथा उससे भी बड़ा अधिकार दिया है। सारे विश्व में सनातन-धर्म ही एक ऐसा धर्म है, जिसने नारी को नवदुर्गा बनाकर प्रत्येक मन्दिर मे पूजा की देवी बनाया। गुलामी के लम्बे अन्तरालों में अज्ञान और अंधता से उभरते सम्प्रदायों में नारी का स्वरूप विकृत हो गया। विदेशी सम्प्रदायों का प्रभाव, नयी साम्प्रदायिक मान्यताओं के साथ व्यापक रूप से जुड़ गया। जिसके कारण धर्म द्वारा दिये गये अधिकारों से भारत की नारी वंचित हुई, उसमें अवगुण देखने की परम्पराओं ने जन्म लिया तथा वह भी अन्य विदेशी धर्मों के अनुसार दूषित कहलाई जाने लगी। जबकि सनातन-धर्म के प्रत्येक ग्रन्थ और परम्पराओं में नारी सदा पूजित रही है।

धर्म ने जहाँ पुरुष को ब्रह्मा, विष्णु और महेश के स्वरूप प्रदान किये। वहीं पर नारी को भी नवदुर्गा को स्थान देकर धर्म और ईश्वर पर, पुरुष से भी बड़ा अधिकार दिया। राम के साथ भी जानकी जी की प्रतिमा, लक्ष्मी जी विष्णु के साथ, उमा महेश के साथ तथा राधा और कृष्ण की जोड़ी मन्दिरों में पूजा के लिए स्थापित की गयी। पुराणों में भी 'देवी-पुराण', के रूप में नारी को सम्मानित किया गया। परम्पराओं में भी कुवांरी कन्याओं की पूजा भी, धर्म का नारी के प्रति विशिष्ट समादर का भाव है। विवाह में भी नारी को ही पति चयन का अधिकार दिया गया। स्वयंवर प्रथाओं में कन्याएं ही स्वतंत्र रूप से अपने पति का चयन करती थीं पति चयन का उसे स्वतंत्र अधिकार था। वह किसी के द्वारा बाध्य नहीं की जा सकती थी।

विवाह आदि में भी, पत्नी के रूप में नारी को पुरुष के ऊपर स्थान दिया गया। विवाह को प्रकृति और पुरुष के मिलन की संज्ञा प्रदान की गयी। वेद में, विवाह के प्रसंग में, जो भावनायें उभरकर सामने आती है, वे कुछ इस प्रकार हैं। पति और पत्नी विवाह मण्डप में बैठे हुए हैं। यज्ञ की ज्वालाएं प्रज्जवलित हैं। पति-पत्नी से कहता है, 'न तो तुम पत्नी हो, और न ही मैं पति। हम दोनों विवाह का पूर्वाभ्यास मात्र कर रहें है, अन्यथा हम दोनों में न कोई पति है और न ही कोई पत्नी।'

पत्नी ने पूछा, ''आप ऐसा क्यों कहते हैं ?'' पति उत्तर देता है, ''उत्पत्ति का कारण तुम भी नहीं जानती तथा मैं भी नहीं जानता। सचराचर की उत्पत्ति के

रहस्य से हम दोनों अनभिज्ञ हैं। अपनी ही शरीर का कोई छोटा सा अंग भी तो हम नहीं बना पाते हैं। ईश्वर ही आत्मा होकर सचराचर को उत्पन्न करते हैं। ईश्वर ही आत्मा होकर जीवन के क्षण प्रदान करते हैं। आत्मा होकर वह ही पति हैं, तथा जीव होकर हम सब पत्नी हैं। हमारा विवाह प्रकृति और पुरुष के विवाह का एक पूर्वाभ्यास ही तो है। तुम जीव रूप पत्नी बनों, मैं आत्मा रूपी पति बनूं। सप्त फेरें लें। सप्त वासनाओं से उपराम हो, सप्त देवों को साक्षी करें तथा आठवीं ज्वाला अर्थात् आत्मा के सत्य को पाने के लिए हम दाम्पत्य जीवन को धारण करें। हमारा विवाह तो तभी होगा, जब जीवन रूप पत्नी की ग्रन्थी आत्मा रूपी पुरुष से बंधेगी, अन्तर्मुखी होकर। तुम भी जीव रूप स्त्री हो, तथा आत्मा रूप पुरुष हो। हम दोनों में कोई भेद नहीं है। हम दोनों की स्थिति ऐसी है। जैसी राम-लीला के मंच पर बालक अभिनय हेतु आते हैं। एक बालक 'कौशल्या, का अभिनय करता है, तो दूसरा 'दशरथ' बन जाता है। उन दोनों में कौन स्त्री है और कौन पुरुष? न तो वह ''दशरथ'' है और न ही ''कौशल्या''। यहां दोनों ही समान रूप से बालक हैं। 'दशरथ' और 'कौशल्या' का अभिनय मात्र कर रहें हैं। उसी प्रकार हमारा विवाह भी उन बालकों की भांति ही है। तुम पत्नी बनों, मैं पति का अभिनय करूँ। जिस प्रकार मंच पर बालक 'दशरथ' और 'कौशल्या' का अभिनय करते राम को जन्मने का अभिनय करते हैं। मंच पर कोई बालक पैदा नहीं होता, वरन् पैदा होने का अभिनय मात्र होता है। उसी प्रकार जब हम अपने तन का एक रोम भी न बना पाये, तो हमने लड़का कहां उत्पन्न किया ? उत्पन्न करने का हम अभिनय ही तो करते हैं। अर्थात् हमारी देह ईश्वर ही तो आत्मा होकर बना रहे हैं।

हमारा विवाह मंच का पूर्वाभ्यास है। इसे हम पूरी सावधानी से तथा ईमानदारी से धारण करें। हमारा जीवन शास्त्र और धर्म संमत हो, जिससे हमारा पूर्वाभ्यास सर्वोत्तम हो। जिस बालक का पूर्वाभ्यास ही सही नहीं होता ! उसे निर्देशक मंच पर आने की अनुमति भी नहीं देता। इसलिए धर्मपूर्वक, शास्त्रपूर्वक हम इस सम्बन्ध को धारण करें। ब्राह्य जगत नाटक का पूर्वाभ्यास है। जिसका मंच हमारा अन्तर जगत है। अग्नियों के सम्मुख संकल्प पूर्वक हम इस बन्धन को धारण करें। तुम जीव रूप पत्नी बनों, मैं आत्मा रूप पति बनूँ।

इन यज्ञ की ज्वालाओं के सामने मैं पति स्वरूप होकर प्रतिज्ञा करता हूँ, कि तुम्हें धर्मपूर्वक धारण करूँगा। जिस प्रकार ईश्वर आत्मा होकर जीव के हित में शरीर को धारण करते हैं, उसी प्रकार मैं तुम्हें पत्नी के रूप में धारण करूँगा। गृहस्थ ही शरीर होगा, जीव रूप तुम पत्नी होगी, तथा आत्मा स्वरूप मैं पुरुष का अभिनय करुंगा। मेरी सम्पत्ति पर प्रथम अधिकार तुम्हारा होगा, उपरान्त मेरा

होगा। जो भी जमीन, जायदाद, भौतिक उपलब्धियाँ मेरे पास होंगी, उसके हम समान सहभागी होंगे। फिर भी उस सब पर पहला अधिकार तुम्हारा ही रहेगा। दाम्पत्य धर्म से प्रकट होती संतति अर्थात् संतान पर भी पहला अधिकार तुम्हारा होगा, उपरान्त मेरा। तुम अपना गाण्डीव अर्थात् दुर्गा-यज्ञोपवीत मुझे धारण कराओ। तुम्हारे लिए इस जीवन रूपी संग्राम को मैं ही लड़ूँगा। भौतिक जीवन में तुम सदा मेरे बायें रहोगी। तुम्हें दो कारणों से मैं बायें रखूंगा। प्रथम, जीवन ही एक युद्ध है। जिसे मुझे तुम्हारे हित में लड़ना है। इसलिए तुम्हें बायें रखूंगा, दायें हाथ से मैं युद्ध लडूंगा। मेरे बायें होने के कारण तुम सदा आघात से निरापद रहोगी। मैं तुम्हारा कवच और ढाल बनूंगा। दूसरा कारण तुम्हें बायें रखने का यह है कि, तुम सदा मेरे हृदय के समीप रहोगी।

पूजा और यज्ञ में, ईश्वर की राह में, तथा मोक्ष प्राप्ति में भी मैं तुम्हें सदा दायें रखूंगा। ईश्वर पर, धर्म पर, मोक्ष पर, पहला अधिकार तुम्हारा होगा, उपरान्त मेरा होगा। इसलिए तुम मेरे द्वारा लाये हुए वस्त्रों और आभूषणों को धारण करो। पिता द्वारा पहनाये गये आभूषणों का परित्याग कर दो। मेरे द्वारा प्रदत्त वस्त्र धारण कर विवाह हेतु आओ।

विवाह की इन परम्पराओं से स्पष्ट है कि सनातन-धर्म में नारी का स्थान पुरूष से सदा ऊँचा रहा है। सनातन-धर्म ने मिट्टी में भी देव देखे। भारत-माता की सदा पूजा की। जबकि दूसरे सम्प्रदायों ने नारी को भी मिट्टी का खेत माना। इन सम्प्रदायों का प्रभाव जब ''भारत'' और ''भारत की संस्कृति पर पड़ा, तो यहां की परम्परायें भ्रमित और दूषित होने लगी। दूसरे सम्प्रदायों के बढ़ते प्रभावों को जानने के लिए उन सम्प्रदायों की मान्यताओं को संक्षेप में स्पष्ट करना जरूरी है।

भारत की सनातन विचारधारा पर, पूर्व काल में असुर, यक्ष और गन्धर्व जातियों का प्रभाव बढ़ता रहा है। इन जातियों की मान्यताओं में नारी का स्थान पुरुष से नीचे रहा, तथा नारी को भोग्या ही माना गया। निरीह लोगों को, तथा अबलाओं को गुलाम बनाना। अनैतिक जीवन कायमकर, उनका मन चाहा प्रयोग करना। उनको बेंच देना, गिरवीं रख देना, उन्हें तोहफा कर देना आदि कुप्रथाएं तथा अंध मान्यताएं सनातन विचारधारा को प्रभावित करती रहीं हैं। जिसका वर्णन हमें अतीत के ग्रन्थों में मिलता है। भीम का गन्धर्व विवाह कुछ ऐसा ही है, जैसा कि आज भी इस्लाम में ''मुतहा विवाह''। जुए में पत्नी को हार जाना, गिरवी रख देना। ये प्रकरण भी ''महाभारत'' में आये हैं। इन दुष्प्रभावों को कृष्ण और राम की कथाओं में भी दर्शाया गया है, तथा सनातन जनमानस को उससे दूर रहने का अमृतमय उपदेश भी दिया गया है। असुरत्व को मिटाने के लिए भगवान राम और

कृष्ण को ईश्वर के अवतार के रूप में प्रकट करके धरती को असुरत्व से मुक्त करने के युद्ध को भी दर्शाया गया है। राम और कृष्ण सारे भूमण्डल से इन कुप्रथाओं को मिटाने के लिए ही प्रकट हुए हैं। वे स्वयं विष्णु के अवतार हैं। इस सबसे स्पष्ट है कि भारत के संत और मनीषीजन, नारी के प्रति अन्याय कदापि सहन नहीं करते थे। रावण, जानकी जी का अपहरण करता है। उन्हें जबरन पकड़कर लंका में ले जाता है। रावण की पत्नी मन्दोदरी उसे समझाती है, कि उसने अच्छा नहीं किया? रावण कुपित होकर उससे पूछता, "कि ऐसा कौन सा गलत काम है जो असुर धर्म के विपरीत है। जानकी के अपहरण को वह असुर धर्म के विपरीत नहीं मानता, परन्तु वही रावण अपनी जवान पुत्रवधू को अकेले ही "श्रीराम" के शिविर से "मेधनाद" का सिर लाने के लिए प्रोत्साहित करता है। रावण की पुत्रवधू "सुलोचना" रावण से पूछती है, "जिसकी पत्नी का आप अपहरण करके लायें हैं। क्या वह आपकी पुत्रवधू के साथ वैसा ही व्यवहार नहीं करेगा ?" रावण उत्तर देता है, सुलोचना तुम निर्भय होकर जाओ, राम "सुर नायक" है। देवी की तरह ही तुम्हारा सम्मान करेगा। तुम निर्भय होकर जाओ।"

मैं इस विषय में नहीं पड़ना चाहता कि ये ग्रन्थ, सत्य कथाएं हैं अथवा कपोलकल्पित। हमें इन ग्रन्थ और कथाओं के माध्यम से अतीत के संत और मनीषी जनों की स्पष्ट विचारधाराएं मिलती हैं। जनमानस भी ग्रन्थों पर महल नहीं बनाता वरन् सद्ग्रन्थों की कथाओं से अपने आचार-विचार और मानस को सींचता है। इन कथाओं ने निश्चित रूप से भारत के जनमानस को लुभाया। सींचा है, और उनकी विचाराधारा को दिशा दी। इन सभी ग्रन्थों के अवलोकन से सनातन-धर्म की मानसिकता तथा विचारधारा पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। ये ग्रन्थ ऐतिहासिक घटनाक्रम हैं। अथवा कपोलकल्पित हैं। ये विवेचन केवल विद्धानों तक सीमित रहता है। व्यापक रूप से जनमानस सद्ग्रन्थों और सत् कथाओं को ही विचारों में ग्रहण करता है। सनातन-धर्म में किसी प्रकार के भेदभाव नहीं रहे हैं।

जिस धर्म ने मनुष्य मात्र में ईश्वर के दर्शन किये, सभी को "भारत" कहकर एक मसीहा, एक अवतार और ईश्वर के बेटे की महान संज्ञा दी। जिससे सन्यासी और सड़क पर झाड़ू लगाने वाले में सद्भाव का बर्ताव होता था तथा स्त्री और पुरुष के भेद को भी नहीं माना। इस धर्म में छुआछूत जैसी गन्दगी और नारी के लिए निकृष्ट भाव कैसे उत्पन्न हो गये? यदि हम भारत के अतीत का चिन्तन करें तो हमें समुचित उत्तर मिल जाते हैं। ये देश लगभग एक हजार वर्ष तक विदेशियों का गुलाम रहा है। आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व जब भारत पर विदेशियों के आक्रमण हुए, तो सारे देश में उथल-पुथल हो गयी। सन्त, विचारक,

मनीषीजन और समृद्ध समाज के लोग निरपराध विदेशियों के द्वारा मारे जाने लगे। गुरूकुल, ऋषिकुल, विश्वविद्यालय तथा धर्म-स्थान विदेशियों के द्वारा नष्ट कर दिये गये। मौत की अंधी आंधियां इस देश की अध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक उपलब्धियों को निगलने लगी। बर्बर जंगली विदेशी जातियां और उनके अमानवीय कृत्य, इस देश में विनाश और अव्यवस्थाओं को जन्मने लगे। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि उस युग में कागज जैसी कोई वस्तु नहीं थी और न ही आधुनिक छापेखाने ही होते थे। जो कुछ भी साहित्य था, वह धर्मस्थानों, विश्वविद्यालयों, गुरूकुल, ऋषिकुल तथा के आश्रमों में ही संकलित रहते थे। जब ये स्थान ध्वस्त हुए तो ज्ञान और विज्ञान की सारी धरोहर राख हो गयी। विद्वत समाज, संत और मनीषीजन भी मारे गये। उसके उपरान्त जो बाकी बचे वे भी अपने-अपने स्थानों से विस्थापित हुए, उनकी उपलब्धियाँ भी नष्ट हो गयी। जब पेट की भूख पर प्रश्नचिन्ह लगने लगा; तो धर्म, संस्कृति और इतिहास की रक्षा कौन करता ? समय के लम्बे अन्तरालों में स्मृतियां भी शेष हो चलीं। केवल सुनी-सुनाई कथाओं, चलन, परम्पराओं, रूढ़ियों और मान्यताओं के सहारे ही धर्म जीवित रह सका। इस अवस्था ने विदेशी धर्मों का प्रभाव तथा भ्रांतियों को ही पुष्ट किया। नये सम्प्रदायों के अनुसंधान और मान्यताएं, आदिकालीन मान्यताओं पर एक मोटी चादर की तरह छाने लगा। धीरे-धीरे सन्त और ऋषियों के द्वारा दिया गया सत्य, खोता चला गया। जो मान्यताएं सर्वथा धर्म के विपरीत थी ! कालान्तर में, वे ही धार्मिक मान्यातएं बन बैठीं।

जिस जाति का ये देश गुलाम बना उस जाति की धर्म, संस्कृति और मान्यताओं पर असुर धर्म का विशेष प्रभाव था। नारी को भोग्या मानना, मनुष्य को चार पत्नियों तथा उसके बाद भी अनगिनत स्त्रियों के हरम सजाना उस जाति की धार्मिक मान्यता थी। नारी को सम्पत्ति और सन्तान के अधिकार से वंचित रखा गया। धर्म स्थान पर भी यदि उसकी परछाई पड़ भी जाए, तो धर्म स्थान दूषित हो जाए। एक गन्दे पशु की भांति ही नारी को धर्म स्थान पर जाने की अनुमति न देना। पुरुष के द्वारा वह जब चाहे पत्नी का त्याग कर देना, पत्नी को बेच देना, तोहफा कर देना अथवा गिरवी रख देना। ये सब समाज की धार्मिक मान्यताएं थीं। विदेशी प्रभाव ने भारत की नारी के प्रति मान्यताओं को ही बदल दिया। सनातन-धर्म की मान्यताएं सम्प्रदायों की जेलों में दम तोड़ने लगी।

शंकराचार्य सम्प्रदाय तथा ऐसे बहुत से सम्प्रदायों में नारी को वेद पढ़ने की मनाही हो गयी तथा 'ॐ' शब्द का उच्चारण करने के लिए उन्हें वर्जित कर दिया गया। वेद की मंत्र दृष्टा बहुत सी नारियां हैं। जिन्होंने वेद दिये, उन्हें ही वेद

पढ़ने की मनाही हो गयी। इन सम्प्रदायों पर केवल मुस्लिम सम्प्रदाय की संस्कृति का प्रभाव पड़ा हो, ऐसी बात नहीं है। ईसाई धर्म में भी नारी को मनुष्यता के अधिकारों से वंचित किया गया था। ब्रिटेन में, प्रजातंत्र में, भी नारी को पुरुष के समान अधिकार नहीं दिये गये। सन् १६१८ तक ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने नारी को एक पशु की तरह वोट डालने का अधिकार नहीं था। आधुनिक काल में भी ईसाईयों के सबसे बड़े धर्म-गुरु 'पोप' ने 'वेटिकन सिटी' से आदेश निकाला है जिसके अनुसार औरत 'प्रीस्त' अर्थात् पुजारी या धर्मगुरू नहीं हो सकती। उसे पुरुष के समान अधि ाकार नहीं दिये जा सकते हैं। जबकि भारतीय नारियाँ आदिकाल से वेद की मंत्र-दृष्टा और धर्म गुरू रही हैं। यथा :- अदृश्यन्ति, लोपामुद्रा, गार्गी, मैत्रेई आदि।

सनातन-धर्म में तथाकथित कुरीतियों को लेकर राजनीतिक नेतागण और समाज सुधारक जो कीचड़ उछालते रहें हैं। उन्हें संक्षेप में स्पष्ट कर देना चाहूँगा।

बाल विवाह

बाल विवाह को लेकर सनातन-धर्म में व्यापक रूप से कीचड़ उछाला जाता रहा है। धर्म ने कभी भी ऐसी कोई प्रथा अथवा परम्परा नहीं दी है। सनातन-धर्म में सभी ग्रंथों में लड़के के लिए पच्चीस वर्ष का ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। वर्णाश्रम-धर्म में भी पच्चीस वष्र की आयु तक ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने की बात कही गयी है। स्पष्ट है, कि पच्चीस वर्ष से पहले लड़के का विवाह करना धर्म की दृष्टि से अनुचित है। हम ये न भूलें, कि इस देश में स्वयंवर प्रथायें रहीं हैं। जब तक कन्या विचारों में परिपक्व नहीं होगी अर्थात् मानसिक रूप से सयानी नहीं होगी; वह कन्या स्वयंवर की भीड़ में अपने पति का चयन कैसे कर पायेगी? इससे भी स्पष्ट है कि सनातन-धर्म में बाल-विवाह जैसी कोई भी प्रथा कभी नहीं रही है।

सनातन-धर्म के ग्रन्थों में आयु के प्रमाण का निर्णय करते समय एक बड़ी ही वैज्ञानिक धारण देखने में आती है। धार्मिक मत से जिस वर्ष की आयु में बालक को यौन सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त होता है; उसी आयु के वर्ष को पांच से गुणा करने पर उस बालक की आयु का प्रमाण होता है। पच्चीस वर्ष का ब्रह्मचर्य उसके उपरान्त विवाह अर्थात् पच्चीस को पांच से गुणा किया तो गुणनफल एक सौ पच्चीस आया। शास्त्रों के अनुसार मनुष्य की आयु का प्रमाण एक सौ पच्चीस वर्ष ही आया। भारत सरकार ने, विवाह की आयु को पच्चीस वर्ष से घटाकर इक्कीस वर्ष कर दिया है। जो धर्म की दृष्टि से अनुचित है। टी० वी० रेडियो और अश्लील साहित्य का प्रभाव बालक के जीवन में उसे लगभग बारह वर्ष की आयु में ही यौन ज्ञान प्रदान करा

देता है। इस प्रकार एक सौ पच्चीस वर्ष की आयु, 13 x 5 = 65 वर्ष मनुष्य की आयु रह जाती है। इस प्रकार एक सौ पच्चीस वर्ष से घटकर मनुष्य की आयु अब पैंसठ वर्ष मात्र रह गयी है। उसमें भी एक नया आधुनिक अति बुद्धिवाद चला है। जिसका कहना है यौन का ज्ञान बचपन में ही बालकों को दिया जाना चाहिए। सम्भवतः वह मनुष्य की आयु को कीड़े, पतंगों और भुनगों की आयु के बराबर लाना चाहते हैं।

बाल विवाह गुलामी की देन है। जब देश गुलाम हुआ तो यहां के निवासियों की भोली बच्चियों से विदेशी अपने हरम सजाने लगे। भयाक्रान्त, विस्थापित संस्कृति को बाल विवाह का सहारा लेना पड़ा। जल्दी से विवाह कर दो, कहीं विदेशी-जबरन हमारी बच्ची से अपना हरम न सजा ले। इस भय ने ब्रह्मचर्य आश्रम को समाप्त किया। स्वयंवर प्रथाओं को समाप्त किया। इनके स्थान पर बाल विवाह शुरू हो गये।

दहेज

दहेज को लेकर आज सारे समाज में भयंकर घुटन है। दहेज प्रथा को लेकर सनातन-धर्म पर कीचड़ उछाला जाता है। सनातन-धर्म में जो दहेज प्रथा है उसका सही स्वरूप हम आपके सामने रखते हैं।

गांव में एक लड़का, लड़की का विवाह होना है। सारा समाज लड़के और लड़की के माता-पिता के पास जाता है। उनसे कहता है कि वे दो परिवार मिलकर उन बच्चों का विवाह नहीं कर सकते। समाज सामूहिक रूप से ही उन बच्चों का विवाह करेगा। यदि दो परिवार मिलकर उन बच्चों को स्थायित्व दे देगें, तो इस नये परिवार की जिम्मेदारी दो परिवारों तक ही सीमित रह जायेगी। इससे समाज की विघटन शुरू हो जायेगा। इसलिए केवल दो परिवार मिलकर एक नया परिवार नहीं बना सकते। समाज इसकी अनुमति उन्हें नहीं देगा। सारा समाज मिलकर ही उन दोनों का विवाह करेगा। जिससे वह सारे समाज के प्रति उत्तरदायी हो। विवाह भारतीय संस्कृति में एक आत्मस्थ यज्ञ है तथा एक सामूहिक, सामाजिक महोत्सव है।

नव दम्पत्ति के लिए लड़की का पिता बैलगाड़ी देता था, तो लड़के का पिता हल और बैल। चार भाई मिलकर उसकी नयी झोपड़ी बनाते थे। सारा समाज भेंट के रूप में, उन्हें धन, वस्त्र तथा बर्तन आदि देते थे। इस प्रकार सारा समाज सामूहिक रूप से उनका नया घर बनाता था। नव दम्पत्ति गांव का मुखियां, राजा हो या सन्यासी हो, जब दम्पत्ति प्रणाम करने के लिए जाते थे, तो वह नववधू की

आरती उतारता था। भारत की संस्कृति में नववधू लक्ष्मी का स्वरूप है, जो सभी के लिए पूज्य एवं वन्दनीय है। आरती-पूजन के बाद उस गांव का बड़ा नव दम्पत्ति को दस बीघा जमीन का पट्टा लिखकर देता था। इस प्रकार सारा समाज सामूहिक रूप से, उनके जीवन को स्थायित्व प्रदान करता था। क्या समाजवाद की इससे अधिक सुन्दर परम्परा की कल्पना आज भी हो सकती है ?

यदि दहेज प्रथा में कोई त्रुटि होती तो अतीत में भी दहेज के कारण बहुएं जलती। अतीत में हमें ऐसी दुर्गन्ध कहीं भी नहीं मिलती। देश की आजादी के चालीस साल बाद अचानक यह प्रथा अमानवीय हो गयी ? हमें इस विषय पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। मेरी मान्यता में दोष प्रथा में नहीं है, वरन् हमारे नैतिक पतन में है। जिसके लिए इस देश का प्रधानमंत्री, शिक्षामंत्री, शिक्षाविद् ही प्रथम रूप से अपराधी हैं।

आज की शिक्षा का मूल उद्देश्य है ?

''अच्छी नौकरी, बढ़िया तनख्वाह, मोटी घूस।''

इस भ्रष्ट शिक्षा के कारण हर बालक भ्रष्टाचार और अमानवीय अतृप्तियों की पूर्ति हेतु ही स्वयं को शिक्षित कर रहा है। जहां-जहां इस शिक्षा का विस्तार है, वहीं पर दहेज-दहन व्यापक रूप से देखने में आ रहा है। शहरों में दहेज हत्यायें, सुदूर गांवों की अपेक्षा सौ गुना से भी अधिक हैं। यदि धर्मान्धता के कारण दहेज प्रथा पैदा हुई होती, तो ज्यादा बहुएं गांवों में ही जलती न कि शहरों में। धर्मान्ध वही लोग होते हैं, जो अशिक्षित होते हैं। ऐसे लोग अधिकतर गांवों में ही बसते हैं।

आज की कन्या का पिता, एक ऐसे वर को ही ढूँढता है, जिसकी तनख्वाह आठ सौ, हजार रुपये हो। परन्तु ऊपर की आमदनी दो हजार, ढाई हजार से भी अधिक हो। लड़की का पिता अब भ्रष्टाचारी, घूसखोर, समाज द्रोही और राज द्रोही दामाद ही ढूँढता है। भ्रष्ट अधिकारी का सम्मान आज इस देश में सर्वोपरि है। जिसके लिए इस शिक्षा व्यवस्था को देने वाले दोषी एवं अपराधी हैं। जब लड़की का पिता घूसखोर दामाद ढूँढता है तो लड़के का पिता भी चाहता है कि उसका बेटा महा भ्रष्ट हो। मोटी घूस की नौकरी में जाये। जहां पर लड़की का बाप उस लड़के के लिए उसके सामने घुटने टेकने आवे। आप ही बताइये कि वह लड़का दैनिक जीवन में हर मिलने वाले से घूस ले रहा है। अगर वह अपने श्वसुर से मोटा दहेज नहीं लेगा तो क्या उसके चरित्र पर धब्बा नहीं आयेगा ?

समाज को भ्रष्टाचार की राह देने वाली, आधुनिक शिक्षा व्यवस्था ही दहेज-दहन के लिए जिम्मेदार है।

जिसे हम दहेज कहते हैं, उसका पूर्व नाम ''दाहज'' है। जिसका अर्थ है कि जन्म से मृत्यु पर्यन्त जो हमारे कर्तव्य हैं, उन्हें लड़की का पिता सेवा के रूप में कन्या को अर्पित करता है। ये परम्परा लगभग विश्व के सभी धर्मों और सम्प्रदायों में अलग-अलग रूप से देखने में आती है। इस देश की अवसरवादी राजनीति और विकलांग मानसिकता ने अपनी गल्तियों और गुनाहों को छुपाने के लिए धर्म को गाली देना एक धंधा सा बना रखा है।

सती प्रथा

सती प्रथा को लेकर सनातन-धर्म पर व्यापक रूप से कीचड़ उछाला जा रहा है, जो कि पुनः एक दिवालिया मानसिकता का रूप है। ''सती'' शब्द का अर्थ सत्य पर आरूढ़ होकर जीने से है, न कि जल मरने से। कोई भी नारी पति के साथ जल जाने से वह ''सती'' नहीं कहलाती। वरन् अपने सतीत्व की रक्षा के लिएं यदि जीवन को उत्सर्ग कर देती है। तो समाज स्वेच्छा से उसे सम्मानित करने लगता है। जल जाने से वह ''सती'' नहीं कहलाती, वरन् अपने सतीत्व के प्रति ईमानदार होने के कारण वह ''सती'' कहलाती है। सती सावित्री, महासती अनुसूइया, सती दमयन्ती आदि कहां जली थी ? फिर भी वह ''सती'' कहलाती हैं। इससे स्पष्ट है कि ''सती'' को जान-बूझकर तोड़ा-मरोड़ा गया है।

''प्रथा'' शब्द का अर्थ है जिसका व्यापक चलन हो। जो घर-घर में प्रचलित हो, तथा जिसे समाज सर्वमान्य धारणा के रूप में पालन करता हो। सारे भारत में तथा भारत के सम्पूर्ण अतीत में, एक परिवार ऐसा नहीं मिलेगा। जहां विधवायें ''प्रथा'' के रूप में निरन्तर जलती रहीं हों। किसी इक्का-दुक्का घटना को एक ''प्रथा'' कहना बहुत बड़ा पागलपन अथवा निकृष्टतम मक्कारी ही हो सकती है।

''राजाराम मोहन राय'' के समय में भी ''सती-प्रथा'' नाम की कोई प्रथा नहीं हुई थी। सत्य को तोड़-मरोड़कर इतिहास को ही गन्दा और घिनौना बनाया गया। ''राजाराम मोहन राय'' के समय में भारत अंग्रेजों का गुलाम देश था। अंग्रेज इस देश के बहुसंख्यकों पर राज्य करने के लिए एक अल्पसंख्यक सम्प्रदाय को विशेष दर्जा देते थे। जैसा की आज भी, भारत में, प्रचलन में है। उस समय लगातार कई सालों तक अकाल भी पड़ा। भुखमरी और महामारी भी अकाल के कारण फैल रही थी। ऐसे समय में जब कोई व्य क्त मर जाता था, तो उसकी मृत्यु के उपरान्त विशेष दर्जा प्राप्त अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के लोग उसकी बेटियों को जबरन हरम कर लेते थे। उसकी जमीन, जायदाद पर भी काबिज हो जाते थे। उस परिवार का

समाज से बहिष्कार भी हो जाता था। बहुत बार इस घुटन और ग्लानि के कारण पूरा-पूरा परिवार आत्महत्या कर लेता था। इस भय और चिन्ता के कारण विधवायें चिता की अग्नियों में कूद जाती थीं। इस डर से कि कोई उन्हें विधर्मी न बना दे जिससे उनके पूरे वंश को, या तो धर्म परिवर्तन करना पड़े, अथवा सामूहिक आत्महत्या करनी पड़े। आश्चर्य है कि केवल साठ, सत्तर वर्ष पूर्व का इतिहास भी रोगी मानसिकता के विद्वानों के हाथों में इतना झूठ बोल सकता है।

बहुसंख्यक समाज ने निरपराध भोली विधवाओं को जलने से सदा रोका, उन्होंने इसके लिए अनेक उपाय भी ढूंढे। वे विधवाओं को पति के साथ जलने नहीं देते थे। उनको बनारस, मथुरा, पुष्कर जी आदि बड़े तीर्थ स्थानों पर ले जाकर वैराग्य दिलवा देते थे। इसके पीछे भी गुलामी की पीड़ाएं थीं। जिन स्त्रियों को वैराग्य दिलवा दिया जाता था, उनके घर के लोग उनको भी "सती" ही बताते थे। ये सब इसलिए होता था कि कोई उन्हें जबरन हरम न कर ले। जिससे उस स्त्री के बाकी परिवार के लोगों को अपमानित न होना पड़े।

यदि धर्म ने कोई "सती-प्रथा" दी होती तो उसका वर्णन तथा चलन सनातन धर्म के ग्रन्थों में और कथाओं में भी मिलता । राजा दशरथ की तीनो रानियों में किसी ने भी पति के शव के साथ स्वंय को नही जलाया था । कंस की पत्नियां भी अपने पिता असुर राज जरासंध के यहां विधवा होकर रही, और उन्होनें भी कंस के साथ आत्मदाह नही किया था,इससे स्पष्ट है कि सुर तथा असुर दोनों ही इस प्रथा को नही मानते थे । यहाँ हमें यह भी भूलना चाहिए, कि जो सम्प्रदाय, गुरू इस प्रथा के पक्षधर बने हुए है । उनके घर में भी "सती-प्रथा" नाम की कोई प्रथा नहीं हैं ।

राजस्थान के अतीत में जौहर प्रथा के रूप में महिलाओं द्वारा सामूहिक बलिदान देने की बात थी। उसके भी राजनीतिक कारण थे। युद्ध में जब राजपूत मारे जाते थे, तो किले की औरते जौहर करती थीं। एक विशाल अग्नि जलाकर,सब उसमें कूदकर भस्म हो जाती थीं। उसका कारण असुरक्षा ही था। युद्ध में केवल पति ही नहीं मरता, वरन् सारे सगे-सम्बन्धी भी तो मारे जाते थे। अपने सतीत्व की रक्षा के लिए वे देवियाँ आत्मदाह करती थीं।

भारत की नारियाँ विदेशियों के हरम में उनकी पत्नियों की दासियाँ और वेश्यायें बनकर जीने के लिए तैयार नहीं थीं। इसे भी कोई"विधवा-दहन" प्रथा अथवा आधुनिक सती-प्रथा नहीं कह सकता। नारी ने जब भी मृत्यु वरण करने का अन्तिम निर्णय लिया, उसका कारण उसकी असुरक्षा, सम्मान और सतीत्व रहा हैं।

विधवा जीवन

विधवा स्त्री को लेकर भी आज समाज में घुटन और दुर्गन्ध व्याप्त है। सनातन-धर्म में विधवा नारी को एक योगी और सन्यासी का दर्जा दिया। एक महान तपस्विनी और पूज्या ही माना है। ''विधवा'' शब्द के दो अर्थ होते हैं, वि+धव अर्थात् 'वि' से विगत हो गया। 'धव' = पति अर्थात् पति विहीन तथा 'वि' से विशिष्ठि+धव अर्थात् पति, जिसका अर्थ हुआ कि विशिष्ठ अर्थात् ईश्वर ही जिसका पति है। कहने का तात्पर्य यह है कि संसारिक दृष्टि से उसका शरीरधारी पति समाप्त हो गया है। परन्तु धार्मिक दृष्टि से विशिष्ठ अर्थात् ''नारायण'' ही अब उसके पति हो गयें हैं। इसलिए वह लक्ष्मी के समान पूज्य, पवित्र और मंगलमय है। वह एक ''सती'', तपस्विनी के समान पूज्य है।

जब विदेशियों के प्रभाव में आकर भारत की नारी का भी अवमूल्यन हुआ तो विधवाओं के साथ भी अनुचित व्यवहार होने लगा।

विधवा विवाह

सनातन-धर्म में पुनिर्विवाह के लिए कभी भी मनाही नहीं थी। ''वेदव्यास'' की माता ''सत्यवती'' ने ही दो विवाह किये थे। प्रथम विवाह ''पराशर'' मुनि के साथ हुआ। जिनके पुत्र ''वेदव्यास'' कहाये। दूसरा विवाह महाराज शान्तनु से हुआ। जिनसे पुत्र रूप में विचित्रवीर्य और चित्रांगद हुये।

आर्य समाज जो पूरी तरह से दूसरी सदी के कबाइली तंत्र के साथ जुड़ा रहा है, उसने भारत की नारी के स्वरूप को अत्यधिक दूषित और कलंकित रूप में रखा है। जिसे मैं अगले अध्याय में रखना चाहूँगा।

अध्याय – १०

आर्य समाज

आर्य-समाज का आरम्भ लगभग सौ वर्ष पूर्व हुआ। इसके प्रवर्तक महर्षि ''दयानन्द'' जी हैं। आर्य-समाज की मूल पुस्तक ''सत्यार्थ-प्रकाश'' है। महर्षि दयानन्द ने इसे स्वयं लिखा है। महर्षि दयानन्द, आर्य-समाज और सत्यार्थ-प्रकाश अपने आरम्भ काल से ही रहस्यों और संदेहों से घिरे रहें हैं। अपने जीवन काल में भी उन्हें तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा। बहुत बार ये विरोध लड़ाई-झगड़े में परिणित हुए। जब-जब लड़ाई-झगड़े की नौबत आई। मुस्लिम सम्प्रदाय के लोग भी हथियारों से लैस होकर महर्षि दयानन्द की रक्षा के लिए आये। जहाँ एक ओर बहुसंख्यक सम्प्रदाय के लोग उनका डटकर विरोध करते रहे, वहीं उन्हें मुस्लिम सम्प्रदाय के लोगों से भी बहुत ही स्नेह और प्यार मिला। आर्य-समाज की नींव भी उन्होंने 'लाहौर' में रखी थी। आर्य-समाज की स्थापना डाक्टर रहीम खां के घर में की गयी थी। डा० रहीम खां बा तख्लुस डा० थे। वे पढ़े-लिखे नहीं थे। ''अनारकली'' बाजार के, कोठों के सबसे बड़े ठेकेदार थे।

महर्षि दयानन्द आर्य जाति के अनुरूप स्वयं को आर्य बतलाते थे, जबकि जाति के रूप में ''आर्य'' शब्द ''ईरान'' में प्रयुक्त होता था, न कि भारत में। आज 'ईरान' में सबसे बड़ी उपाधि ''आर्य-मेहर'' है। वहां के विश्वविद्यालय का नाम भी 'आर्य-मेहर' है जो वहा का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय है। ''ठाणे'' स्थित ''इंस्टीट्यूट आफ ओरियण्टल लरनिंग'' के निदेशक डा० विजय बेडेकर ने भी अपने शोध कार्य में इस कार्य को माना है कि ''आर्य'' शब्द पूर्णतः विदेशी है, तथा 'ईरान' से प्रकट हुआ है। उनके मुताबिक आर्य जाति का कोई भी आक्रमण भारत पर नहीं हुआ था। ''श्री बेडेकर'' के अनुसार वेदों से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक भारतीय साहित्य में ''आर्य'' शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है। वैदिक संस्कृति में भी 'अर्य' शब्द का प्रयोग श्रेष्ठ के रूप में आया है। जाति संज्ञयक इस शब्द का प्रयोग कभी नहीं हुआ है। प्रसिद्ध इतिहासकार डा० आर० के० मुखर्जी ने (हिन्दू सिविलाइजेशन) में लिखा है कि भारत की जाति वा आर्य जाति में लेने-देने का सम्बन्ध जरूर रहा है। पश्चिमी इतिहासकार 'आर० बुरनी' ने भी सिद्ध किया है, कि इस देश का अतीत नाम 'भरत-खण्ड' रहा है तथा इस देश की जाति का नाम ''भारत'' रहा है। जब इस देश के सारे योद्धा मिलकर युद्ध लड़े तो उस युद्ध का नाम भी ''महाभारत'' पड़ा। ''भारत'' शब्द का प्रयोग सम्बोधन के रूप में, प्राचीन

ग्रन्थों में सर्वत्र आया है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में 'आर्य' शब्द का प्रचलन जाति संज्ञयक शब्द के रूप में महर्षि दयानन्द के द्वारा ही हुआ है।

भारत की नारी के प्रति 'महर्षि दयानन्द' की अति विलक्षण धारणा रही है। दूसरी सदी के कबाइली की तरह ही जैसे मिट्टी के खेत में उत्तम बीज पड़ा है, उसी प्रकार नारी को भी चाहिए, कि अपने से उत्तम कुल के पुरुषों से नियोग द्वारा उत्तम वीर्य धारण करें। जिसे 'दयानन्द' ने अपनी पुस्तक 'सत्यार्थ-प्रकाश' में प्रमुखता से दिया है।

सत्यार्थ - प्रकाश, चतुर्थ समुल्लासः, प्रश्न संख्या - १४१

प्रश्न : नियोग अपने वर्ण में होना चाहिए या अन्य वर्णों के साथ भी ?

उत्तर : अपने वर्ण में या अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष के साथ अर्थात् वैश्य स्त्री वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ, क्षत्रियां क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ ब्राह्मांणी ब्राम्हण के साथ नियोग कर सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि वीर्य सम या उत्तम वर्ण का चाहिए, अपने से नीचे के वर्ण का नहीं। *स्त्री और पुरुष की सृष्टि का यही प्रयोजन है कि धर्म से अर्थात् वेदोक्त रीति से विवाह या नियोग से संतानोत्पत्ति करना।*

इस प्रकार की व्याख्या अन्य किसी भारत के धर्म अथवा सम्प्रदाय में नहीं मिलती। उपरोक्त उत्तर में अन्तिम पंक्ति पर यदि हम विचार करें यथा :-

स्त्री और पुरुष की सृष्टि का यही प्रयोजन है कि धर्म से अर्थात् वेदोक्त रीति से विवाह या नियोग से संतानोत्पत्ति करना।

इस पंक्ति से यही सिद्ध होता है कि सृष्टि का प्रयोजन होने से प्रत्येक नारी के लिए सर्वमान्य, अकाट्य सिद्धान्त हो जाता है। कि वह धर्म से अर्थात् वेदोक्त रीति से विवाह या नियोग से संतानोत्पत्ति करे। मैं नहीं मानता कि भारत की नारी ऐसी मान्यता को अपने जीवन में स्थान दे सकती है। तथा कोई भी पति अपनी पत्नी को इस प्रकार का अधिकार देगा। दूसरी विलक्षण बात जो कि इसमें है कि नीचे कुल की औरत ऊँचे कुल के पुरुष से नियोग करवाने के लिए जाये। इस प्रकार के वीर्य वर्गीकरण को भी किसी दूसरे सम्प्रदाय में, चलन में मैंने नहीं पाया। जात-पात के वर्गीकरण की बात तो सुनी है, परन्तु इस वीर्य वर्गीकरण की कथा को मैने केवल ''सत्यार्थ-प्रकाश'' में ही पाया है। मैं नहीं जानता हूँ कि आर्य समाजी औरतें और पुरुष इस आदेश का कितना पालन करते हैं। ऐसा जानने का प्रयास भी मैंने नहीं किया है।

नियोग को वेदोक्त सिद्ध करने के लिए महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद की ऋचाओं को भी भाष्य सहित प्रस्तुत किया है। यथा :-

सत्यार्थ प्रकाश, चतुर्थ समुल्लासः प्रश्न संख्या-१३३

''इमां त्वामिन्द्रं मीढवः सुपुत्रां सुभागां कृणु।

दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि।। (ऋग्वेद)

हे (मीढूव, इन्द्र) वीर्य सिंचन में समर्थ ऐश्वर्ययुक्त पुरुष ! तू इस विवाहित स्त्री या विधवा स्त्रियों को श्रेष्ठ पुत्र और सौभाग्ययुक्त कर। इस विवाहित स्त्री में दस पुत्र उत्पन्न कर और ग्यारहवीं स्त्री को मान। हे स्त्री तू भी विवाहित पुरुष या नियुक्त पुरुषों से दस सन्तान उत्पन्न कर और ग्यारहवें पति को समझ।

इस ऋचा का सही अर्थ हम आपके समाने प्रस्तुत करते हैं।

(इमां) अर्थात् इस प्रकार (त्वमिन्द्रः) इस प्रकार तुम, हे इन्द्र ! महान ! यज्ञ प्रदीप्त ! (मीढवः) सबके पूज्य पिता, सबको उत्पन्न करने वाले (सुपुत्रां) अपने पुत्रों को (सुभगां) सौभाग्य से संयुक्त (कृणु) करो। (दशास्यां) दशों इन्द्रियों को (पुत्रानाधेहि) हम पुत्रों को जो आपने प्रदान की है। (पतिमेकादशम्) उनका ग्यारहवां अधिपति जो मन प्रदान किया है। (कृधि) कर्म को धारण करने वाली जो बुद्धि आपने प्रदान की है अर्थात् हे पिता ! हम पुत्रों को सौभाग्य से संयुक्त करो। अपनी ज्योतियों से युक्त करें। हमारी दसों इन्द्रियों को तथा ग्यारहवें अधिपति मन को तथा बुद्धि को पवित्र करो जिसने मन से, बुद्धि से तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों से हम आप ही का अनुसरण कर सकें। आपकी ही राह चल सकें।

इसी ऋचा के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने पुनः चतुर्थ समुल्लास *प्रश्न संख्या-१४८ में:-*

प्रश्नः- एक स्त्री वा पुरूष कितने नियोग कर सकते हैं और विवाहित नियुक्त पतियों का नाम क्या होता है ?

उत्तरः- ''सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।

तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः।।

हे मित्र ! जो (प्रथमः) पहला विवाहित (पतिः) पति तुझको (विविदे) प्राप्त होता है उसका नाम (सोमः) सुकुमारतादि गुणयुक्त होने से सोम, जो दूसरा नियोग से (विविदे) प्राप्त होता वह (गन्धर्वः) एक स्त्री से संभोग करने से गन्धर्व, जो (तृतीय उत्तरः) दो के पश्चात् तीसरा पति होता है, वह (अग्निः) अत्युष्णतायुक्त होने से अग्निसंज्ञक और जो (ते) तेरे (तुरीयः) चौथे से लेके ग्यारहवें तक नियोग के पति होते हैं वे (मनुष्जाः) मनुष्य नाम कहाते हैं। जैसे-

(इमां त्वमिन्द्र.) इस मंत्र में ग्यारहवें पुरूष तक स्त्री नियोग कर सकती हैं वैसे पुरूष भी ग्यारहवीं स्त्री तक नियोग कर सकता है।

इसमें महर्षि ने पुनः वेद के अनूठे भाष्य के साथ औरत और पुरुष को

पति के अतिरिक्त ग्यारह पुरुषों तक नियोग का अधिकार प्रदान किया है।

पुनः चतुर्थ समुल्लासः प्रश्न संख्या - १५२

प्रश्न नियोग मरे पीछे ही होता या जीते पति के भी ?

उत्तर जीते भी होता है -

"अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिम् मत्।"

पुनः महर्षि ने चतुर्थ समुल्लासः प्रश्न संख्या - १५४ में स्पष्ट किया है

-- जो अप्रिय बोलने वाली पत्नी हो सद्यः उस स्त्री को छोड़ के दूसरी स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लेवे। (२) वैसे ही जो पुरुष अत्यन्त दुःखदायक हो तो स्त्री को उचित है कि उसको छोड़ के दूसरे पुरुष से नियोग कर सन्तानोत्पत्ति करके उसी विवाहित पति के दाय भागी संतान कर लेवे।

यहां हमको ये भी नहीं भूलना चाहिए कि आर्य-समाज की ये किताब सारे विश्व में लगभग सभी भाषाओं में छपकर आर्य-समाज के द्वारा मुफत बांटी जा रही हैं तथा बेची जा रही हैं। जिसके कारण सारी दुनिया के लोग भारत की नारी को एक वेश्या और व्यभिचारिणी के रूप में, जानने लगे हैं। जो पति के अलावा ग्यारह पुरुषों से नियोग के लिए भी धार्मिक रूप से स्वतंत्र हैं। भारत की नारी का पतिव्रत धर्म और उसकी पवित्रता इस महान पुस्तक के कारण समाप्त हो चुकी है। विदेशों में मुस्लिम सम्प्रदाय को हिन्दुओं से ऊपर स्थान दिया जाता है। क्योंकि वहां केवल पुरुष ही स्त्रियों का हरम रखता है, जबकि "सत्यार्थ प्रकाश" में औरतों को भी ग्याहर पुरुषों का हरम रखने का स्वंत्रत अधिकारी है।

"देवर" का भी बड़ा अच्छा वर्णन उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ समुल्लासः प्रश्न संख्या - १४५ में किया है।

प्रश्न देवर किसे कहते हैं ?

उत्तर देवर उसको कहते हैं जो विधवा का दूसरा पति होता है चाहे छोटा भाई या बड़ा भाई अथवा अपने वर्ण या अपने से उत्तम वर्ण वाला हो, जिससे नियोग करे उसी का नाम "देवर" है।

चारों वेंदों में "देवर" शब्द की व्याख्या "देवरक्षित" के रूप में आयी है अर्थात् ईश्वर के समान जहां नारी का सतीत्व रक्षित हो उसे "देवर" कहते हैं। इस पुस्तक ने "देवर" शब्द को ही "द्विवर" की संज्ञा प्रदान कर दी। दूसरी की कबाइली मान्यता में इस प्रकार के सिद्धान्त देखने में आते थे। जब भी कोई कबाइली युद्ध में मारा जाता था तो कबीले के नियम के मुताबिक मृत कबाइली की औरत को उसके छोटे भाई अथवा बड़े भाई को दे दिया जाता था। यदि भाई नहीं हुआ तो उसके कुल का कोई भी व्यक्ति नहीं होता था तो उन औरतों का हरम

कबीले के सरदार का स्वतः हो जाता था।

"सत्यार्थ प्रकाश" की इस "देवर" परिभाषा में दूसरी सदी के कबाइली की सटीक मान्यता आश्चर्यजनक है।

इसके अतिरिक्त भी दूसरी सदी के कबाइली के साथ इस पुस्तक का अद्भुत समन्वय है, यथा :-

"बुत्त परस्ती गुनाह है।"	(कबाइली)
"मूर्ति पूजा ढोंग है।"	(आर्य-समाज)
"परवर दिगार सांतवे आसमान में है।"	(कबाइली)
"परमेश्वर सप्तलोक में हैं।"	(आर्य-समाज)

इसके अतिरिक्त भी यह पुस्तक व्यापक रूप से कबाइली तथा "कुरान" की मान्यताओं को वेदों से कहीं ऊपर मानकर चलती है। *सप्तम् समुल्लासः प्रश्न संख्या ४८* में महर्षि मानते हैं, "कि ईश्वर अवतार नहीं लेता है" पुनः इसी *समुल्लासः के प्रश्न संख्या - ५५* में वे मानते हैं, "जीव उत्पत्ति कभी न हुई अनादि है।" कबाइली के पुराने स्कूल के मुताबि "रूह" और "खुदा" कभी एक नहीं होते उसे भी *सप्तम् समुल्लासः में प्रश्न संख्या - ७२* में अन्तिम वाक्य के रूप में "इसलिए ब्रह्म जीव और जीव ब्रह्म कभी न हुआ है, न है, और न होगा।"

इसी को पुनः *नवम् समुल्लासः प्रश्न संख्या - १३* के अन्त में :-

"इसलिए ब्रम्ह जीव, जीव ब्रम्ह, एक कभी नहीं होता, सदा पृथक-पृथक हैं।"

मनुष्यों की उत्पत्ति को लेकर ये पुस्तक और कबाइली अलग-अलग हो जाते हैं। महर्षि दयानन्द के मुताबिक आर्यों की उत्पत्ति "तिब्बत" में हुई है। जबकि कबाइली उसे पश्चिमी मतावलम्बियों के साथ ईरान में मानता है। दूसरा भेद यहां यह भी है कि कबाइली विचारधारा में मरने के बाद "रूह" तीसरे आसमान में रहती है। जबकि *सत्यार्थ प्रकाश नवम् समुल्लासः प्रश्न संख्या-२६* के मुताबिक जीव ब्रम्ह में रहता है। ये स्पष्ट नहीं है कि ये ब्रम्ह किसी जगह का नाम है अथवा किसी लोक का नाम है।

कबाइली विचार धारा की तरह ही ये पुस्तक मोक्ष को नहीं मानती है। कबाइली विचारधारा में मुक्ति के बाद "रूह" छत्तीस हजार कयामत तक बाहिस्त में रहती गुल्मों और हूरों के साथ आनन्द मनाती हैं ये भी विलक्षण है कि इस पुस्तक में भी घुमा-फिराकर इसी विचार को स्वीकार किया है। यथा :-

नवम् समुल्लासः प्रश्न संख्या - ४८

प्रश्न जब ऐसी तो मुक्ति भी जन्म मरण के सदृश है। इसलिए श्रम करना व्यर्थ

है ?

उत्तर मुक्ति जन्म-मरण के सदृश्य नहीं, क्योंकि जब तक ३६,००० (छत्तीस सहस्र) बार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है उतने समय पर्यन्त जीवों को मुक्ति के आनन्द में रहना, दुःख न होना क्या छोटी बात है?

छुआछूत को लेकर भी ये पुस्तक स्वयं में बड़ी विलक्षण है। महर्षि दयानन्द के अनुसार हरिजन के हाथ का भोजन करना मां, बेटी के साथ मुँह काला करने जैसा है, तथा मल खाने के समान है जैसा कि उन्होंने लिखा है।

सत्यार्थ प्रकाश दशम् समुल्लासः प्रश्न संख्या - ३५

प्रश्न कहो जी ! मनुष्यमात्र के हाथ की हुई रसोई, उस अन्न के खाने में क्या दोष है ? क्योंकि ब्राम्हण से लेके चाण्डाल पर्यन्त के शरीर हांड़-मांस चमड़े के हैं और जैसा रुधिर ब्राह्मण के शरीर में है वैसा ही चाण्डालादि के। पुनः मनुष्यमात्र के हाथ की पकी हुई रसोई के खाने में क्या दोष है?

उत्तर दोष है। क्योंकि जिन उत्तम पदार्थों के खाने पीने से ब्राह्मण और ब्राह्मणी के शरीर में दुर्गन्धादि दोष-रहित रज-वीर्य उत्पन्न होता है। वैसा चाण्डाल और चाण्डाली के शरीर में नही। क्योंकि चाण्डाल का शरीर दुर्गन्ध के परमाणुओं से भरा हुआ होता है वैसी ब्राह्मणी वर्णों का नहीं। इसलिये ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और चाण्डालादि नीच, भंगी चमार आदि का खाना। भला जब कोई तुमसे पूछेगा कि जैसा चमड़े का शरीर माता, सास, बहिन, कन्या, पुत्रवधू का है वैसा ही अपनी स्त्री का है तो क्या माता आदि स्त्रियों के साथ भी स्वस्त्री के समान बर्तोगे ? तब तुमको संकुचित होकर चुप ही रहना पड़ेगा। जैसे उत्तम अन्न हाथ और मुख से खाया जाता है वैसे दुर्गन्ध भी खाया जा सकता है, तो क्या मलादि भी खाओगे ? क्या ऐसा भी कोई हो सकता है।

इस पुस्तक ने भारत के आदि-कालीन सभी सम्प्रदायों और धर्मो को अपमानित किया है। गन्दे भद्दे और घटिया स्तर पर उतरकर भारत के सभी सम्प्रदायों को गालियां दी गयी है। इस पुस्तक में राम, कृष्ण तथा ब्रम्हा, विष्णु महेश को भी बड़े ही निचले स्तर से अपमानित किया गया है। "भारत" के अद्भुत संतो जैन, बौद्ध, कबीर और गुरूनानक आदि को भी अपमानित किया गया है। भारत के सभी ग्रन्थों को जाल-बट्टा बताया गया है। जिसमें "महाभारत" भागवत, गीता और रामायण भी आती है, यथा :-

सत्यार्थ प्रकाश, तृतीया समुल्लासः प्रश्न संख्या - १६७

अब जो परित्याग के योग्य ग्रन्थ हैं उनका परिगणन संक्षेप में किया जाता

है अर्थात् जो-जो नीचे ग्रन्थ लिखेंगे वह-वह जाल ग्रन्थ समझना चाहिए। व्याकरण में कातन्त्र, सारस्वत, चन्द्रिका, मुग्धबोध, कौमुदी, शेखर मनोरमादि कोश में अमर कोशादि। छन्दोग्रन्थ में बृत्तरत्नाकरादि। शिक्षा में "अथ शिक्षा प्रवक्ष्यामि पाणिनपीय मतं यथा" इत्यादि। ज्योतिषी में शीघ्रबोध, मुहूर्तचिन्तामणि आदि। काव्य में नायिका भेद, कुवलयानन्द, रघुवंश, माघ, किरातार्जुनीयादि। मीमांसा में धर्मसिन्धु, व्रतार्कादि वैशेषिक में तर्कसंग्रहाहि न्याय में जागदीशी आदि। योग में हठप्रदीपिकादि। सांख्य में सांख्यतत्वकोमुद्यादि। वेदान्त में योगवसिष्ठ, पंचदश्यादि। वैद्यक में शार्गधराधि। स्मृतियों में मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और अन्य सब स्मृति, सब तंत्रग्रन्थ, सब पुराण सब उपपुराण, तुलसीदास कृत भाषारामायण, रुकिमणीमंगलादि और सर्व भाषाग्रन्थ ये सब कपोलकल्पित मिथ्याग्रन्थ हैं।"

इन सारे ग्रन्थों को जाल-बट्टा ग्रन्थ बताने के उपरान्त केवल वेद ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिन्हें सद्ग्रन्थ की संज्ञा दी जा सकती है। उन वेदों के भाष्य भी जो उन्होंने किये हैं, वे वेद के नाम पर घटिया किस्म गन्दी-भद्दी गालियाँ ही हैं। उनके वेद भाष्य में ऐसा लगता है कि उनके काल्पनिक परमेश्वर ने उसके भांग पीने के साथ उन्हें जो भी मिला नशे में खा भी डाला। जब पूरी तरह "आउट" हो गये तो ऊट-पटांग बोला वह वेद बन गया। वेद जो कि विश्व की महानतम उपलब्धि हैं। उन्हें इस प्रकार के भाष्य में निकृष्टतम साबित करने का प्रयास किया गया है। ऋचाओं को तोड़-मरोड़ कर मन चाहा अर्थ किया गया है। लगता है जैसे कि कोई जान-बूझकर उपहास कर रहा हो।

इस ग्रन्थ में भारत में प्रकट हुए सम्प्रदाय, धर्म और समाज, महर्षि के शत्रु नं० एक है। शत्रु नं० दो इसाइयों को लिया गया है तथा सबसे कम शत्रु के रूप में इस्लाम को गालियां दी गयी है। एक विलक्षण बात जो इस ग्रन्थ में हैं, कि सबसे पहले सत्यार्थ-प्रकाश के प्रकाशन में कुल बारह समुल्लासः ही छपवाए गये थे। अर्थात् इसाई और मुसलमान शत्रु नहीं माने गये थे। केवल भारत के सम्प्रदाय और धर्म ही शत्रु माने गये। इस बात को लेकर जब लोगों के मन में संदेह उठने लगा, कि ये सन्यासी और इसका समाज कौन है ? जब प्रबल विरोध होने लगा, तो शीर्घता से इसका दूसरा संस्करण निकाला गया जिसमें दो समुल्लासः और जोड़कर चौदह ससुल्लासः किये गये। इस बात को सम्पादक की भूमिका में घुमा-फिराकर स्वीकारा गया, यथा- *सत्यार्थ प्रकाश, सम्पादक की भूमिका में-*

दो समुल्लास, अप्रकाशित- श्री स्वामी जी नें यघपि चौदह समुल्लास ही लिखवायें थे, पर प्रकाशक राजा जी ने छपवाए बारह समुल्लास ही थे।

मैंने अपने जीवन में चौथाई पेज का कोई ग्रन्थ आज तक नही देखा। न ही संस्कृत

और अरबी, फारसी की कोई खिचड़ी भाषा देखी हैं। इस ग्रन्थ के अन्त में "अल्ला" की खिचड़ी भाषा में अद्भुत स्तुति गायी गयी है। जिसका नाम दिया है "अल्लाहो उपनिषद्।" इस चौथाई पेज के उपनिषद में अल्लाह को निराकार से सगुण और साकार किया गया, सभी देवी-देवताओं को प्रकट करने वाला तथा सचराचर का कर्ता,धारक ,संहारक बताया गया है। संस्कृत के व्याकरण में अरबी शब्दो का समायोजन किया गया है। ये अपने में एक बड़ी ही घटिया किस्म की कृति है। आश्चर्य की बात है कि महर्षि कहते हैं कि वे इस उपनिषद् को नही मानते हैं। उनके मत से, मुसलमान लोग इस उपनिषद् को मानते हैं। ये स्वयं में सफेद झूठ है। ये उपनिषद् किसी संस्कृत के व्याकरणाचार्य की ही देन है, जो अरबी भाषा का थोड़ा ज्ञाता रहा होगा। महर्षि दोनों भाषाओं के ज्ञाता थे। मैंने मुस्लिम विद्धानों से "भारत" तथा मुस्लिम देशों में पता किया तो मुझे इस उपनिषद् की चर्चा किसी भी मुस्लिम ग्रन्थ में कहीं नहीं मिली है। भारत के धर्म और संस्कृति का इसमें अपमान तो है ही, साथ में अल्लाह को भी भी अपमानित किया गया है। अल्लाह को यहां गलती से रसूल अर्थात् पैगम्बर या दूत बतला दिया गया है। जो मुस्लिम धर्म गुरूओं के मुताबिक "तौहीने खुदा" है। महर्षि ने इस पुस्तक के अन्त में ऐसे अद्भुत उपनिषद् की कल्पना क्यों की ? इसका उत्तर उस समाज के पास भी नहीं है। उनका कहना है कि वे भी उपनिषद् को नहीं मानते हैं। एक बात जो समझ में नहीं आती है कि जब वे इस उपनिषद् को मानते नहीं हैं तो इसे हर किताब में छापकर इसी पब्लिसिटी क्यों कर रहें हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं कि ये उपनिषद् चौदहवें समुल्लास का प्रायश्चित हो ?

मैं इस पुस्तक पर अपना कोई भी निर्णय नहीं देना चाहता हूँ। प्रत्येक पाठक के ऊपर इसके निर्णय को छोड़ देता हूँ। आप स्वयं सोचें-विचारें और निर्णय को खोजें कि ये सम्प्रदाय, महर्षि और ये ग्रन्थ क्या है ?

अध्याय – ११

सनातन धर्म में साम्यवादी-विचारधारा !

आधुनिक युग में साम्यवादी विचारधारा धर्म और ईश्वर को साम्यवाद का प्रथम शत्रु मानकर चलती है। उनके विचार में, धर्म रूढ़िवादियों और प्रक्रियावादी लोगों का भोले लोगो के शोषण का एक प्रबल माध्यम है। जबकि सत्य इसके एकदम विपरीत है। भारत की भूमि पर साम्यवादी विचारधारा का जन्म वेद के साथ ही हुआ है। सनातन-धर्म ने ईश्वर को सब में देखा है। सनातन-धर्म घट-घट वासी आत्मा को ही ईश्वर मानता है। आत्मा होकर ईश्वर सम्यक् भाव से सबमें व्याप्त है। इस प्रकार सनातन-धर्म में पहला साम्यवादी स्वयं आत्मा है। जो सम्पूर्ण सचराचर का जनक है। इसी विचारधारा को लेकर महाभारत, भागवत तथा ब्रम्हसूत्र जैसे बहुमूल्य ग्रन्थ प्रकट हुए हैं। भारत में ईश्वर के बाद सबसे बड़ा साम्यवादी स्वयं वेदव्यास हुआ। वेदव्यास के नायक श्रीकृष्ण भूमण्डल के अधिपति हैं। ग्वालों के सखा (कम्यून)। श्रीकृष्ण का सखावाद विश्व का सबसे सुस्पष्ट तथा संदेह रहित साम्यवाद है। भू-मण्डल पर पहला साम्यवादी यदि कोइ रहा होगा, तो वह कृष्ण ही होगा। अतीत के युगों में सारे विश्व में सनातन-धर्म ने ही ईश्वर को सब में देखकर साम्यवादी विचारधारा को जन्म दिया है। ईश्वर आत्मा के रूप में आज भी प्रत्येक शरीर में हर जीव में जूठन को रक्त में बदलता है। राम घट-घट वासी होकर हर देह में शबरी के जूठे बेर खाता है। इससे अधिक सुस्पष्ट सुन्दर और व्यापक विचारधारा की कल्पना भी नहीं हो सकती है।

कृष्ण की कथा में कृष्ण गरीब ग्वालों का सखा (कम्यून) है। कंस उसका मामा है, जो साम्राज्यवादी, पूंजीपति विचारधारा का जनक है। असुर है। जरासंघ उसका श्वसुर है। जरासंध आदि असुर राजा, निरीह लोगों को बन्दी बनाकर बेचने का धंधा करते हैं। जबकि कृष्ण अस्त्र भी उठाता है तो सत्ता अथवा साम्राज्य विस्तार के लिए नहीं, वरन् गरीब और सताये हुए लोगों की तथा निरीह पशु-पक्षिओं की रक्षा के लिए। कृष्ण अपने विचार, मान्यता और कर्म में उत्कृष्ट कोटि साम्यवादी है। कंस की साम्राज्यवादी तथा पूंजीपतिपरक शोषण की वृत्तियों का प्रबल विरोधी है। कंस की दो पत्नियां हैं, अस्ति और प्राप्ति। ''अस्ति'' माने होना (Haves) तथा प्राप्ति का अर्थ है, न होना इसलिए मिल जाना चाहिए। प्राप्त होना चाहिए। (Havesnot) ।

अतीत की साम्यवादी विचारधारा में (Haves) और (Haves not)

अर्थात् अस्ति और प्राप्ति, पूंजीपति कंस की पत्नियां हैं। जबकि कृष्ण साम्यवादी। आज के आधुनिक साम्यवाद में अस्ति और प्राप्ति अर्थात् (Haves) और (Haves not) साम्यवाद के साथ चिपक गई है। लगता है जैसे कंस साम्यवादी बन गया है और कृष्ण पूंजीपति।

भारतीय साम्यवाद का स्वरूप, प्रकृति और पुरुष की सचराचर व्यापी लीला से उभरकर बाहर आता है। जब ईश्वर आत्म स्वरूप होकर सम्पूर्ण सचराचर का समान-भाव से सांसे और धड़कने प्रदान करता है। आत्मा होकर ईश्वर अभेद है, किसी से भेदभाव नहीं करता है। तब हम भी मनुष्य होकर समान हैं, हममें कोई भेद नही है। धर्म के गहन अतीत के अंतरालों में भी मुझे इन्हीं विचारों का चलन सर्वत्र मिलता है।

यहां तक कि वर्ण-व्यवस्था को भी गीता का कृष्ण गुण, कर्म, और विभागसा ही मानता है, न कि जन्मना। जो कि पुनः समभाव के प्रति पूरी तरह से समर्पित होने की बात है। राम की कथा में भी राम की मर्यादा को जनता में कुछ लोगों के द्वारा अस्वीकार कर दिये जाने पर श्रीराम का जानकी को वनवास देकर तथा स्वयं भी सरयू में प्रवेश करना, एक बड़ी ही विलक्षण कथा है। यह कथा स्वयं में भारत के अतीत में विचार स्वातंत्रय तथा राजा और रंक के भेद को न मानकर साम्यवादी विचारधारा को ही पुष्ट करती है। यदि गम्भीरता से अतीत की इन कथाओं में सूक्ष्म चिन्तन किया जाये; प्राकृतिक, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक साख्यों का यदि सूक्ष्म और निष्पक्ष चिन्तन किया जाय तो तो आश्चर्यजनक तथ्य और प्रमाण भारतीय धर्म में साम्यवादी विचारधारा के मिलते हैं। साथ ही सूक्ष्म चिन्तन करने पर भी स्पष्ट होने लगता है कि सनातन-धर्म को तथा इतिहास के अध्यात्मिक पुरुषों को उस काल में व्याप्त साम्यवाद विरोधी विचारधाराओं से लम्वें संघर्ष करने पड़े हैं। कृष्ण और राम तथा वेदव्यास जैसे तपस्वी और ऋषि साम्यवाद विरोधी विचारधाराओं से जूझते रहें हैं। एक बात यह भी पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है कि इतिहास के नायक अपनी साम्यवादी विचारधारा के कारण ही जन-जन के नायक हुए। भारतीय साम्यवाद को तब तक नहीं समझा जा सकता, जब तक कि सनातन-धर्म को, उसकी मान्यताओं को और सिद्धान्तों को, गहराई तक न जाना जाय। भारत का अति प्राचीन नाम ''भरत-खण्ड'', भारत की पुष्ट साम्यवादी विचारधारा पर रखा गया था। ''भरत'' शब्द का अर्थ वेद में सबका भरण-पोषण करने वाले ईश्वर के रूप में आया है। ईश्वर जो विश्व की सर्वोच्च सत्ता है; सम्यक भाव से सबमें व्याप्त है। इसलिए देश का नाम ''भरत-खण्ड'' होगा अर्थात् ''परमेश्वर-खण्ड' हो।ा। हम सब उस एक पिता, परमेश्वर के पुत्र हैं अर्थात्

''भरत'' के पुत्र हैं इसलिए हम सब ''भारत'' हैं। हम सब ईश्वर के पुत्र होने से मसीहा हैं, अवतार है, पैगम्बर है। इस प्रकार भारत के आदि-धर्म,सनातन-धर्म में सबको समानभाव से भारत कहकर साम्य-वादि विचारधारा के प्रति अपनी पुष्ट भक्ति प्रदर्शित की है।

पूँजीपति विचारधाराओं से पुष्ट धर्म और संस्कृति नें ईश्वर को सदा मनुष्य से अलग किया। ईश्वर को ऐसे स्थान पर रखा गया, जहां सर्व साधारण न पहुँच सके। ऐसे देशो में भी महान संत हुए, जिन्होंने ईश्वर की सत्ता को तो नीचे उतारने का साहस नही किया, परन्तु साहस करके मनुष्य मात्र को समभाव से जीने का उपदेश दिया। जिसके लिए उन्हे अपने तथा अपने अनुयाइयों के भी बलिदान देने पड़े। पवित्र मसीहा सूली पर चढ़ गया तथा महान मुहम्मद तथा उसके वंशजो को भी अपना बलिदान देना पड़ा। कृष्ण को भी अपने पैर में बाण खाकर परलोक गमन करना पड़ा था।

कोई भी विचार, किसी भी काल में मरता नहीं है। समय के अन्तरालों में विभिन्न परिस्थितियों में विचार मनुष्य के मस्तिष्क में करवट लेते रहते है। बहुत बार एक ही प्रकार के विचार, विभिन्न परिस्थितियों में प्रकट होकर, आपस में टकराने लगते हैं। जबकि दोनों विचार समान हैं, दिशा एक है, लक्ष्य भी एक ही है। परन्तु, फिर भी आपस में झगड़ जाते हैं। कुछ ऐसा ही चलन भारतीय साम्यवादी विचारधारा तथा विदेशों से लाकर ओढ़ी हुई विचारधारा में हो गया है। आज का कम्युनिष्ट कृष्ण से अजनबी है। आज का साम्यवादी अतीत के अन्तरालो में प्रकट हुई विचारधारा को, साम्यवाद को, पहचान नही पाता है। अन्जाने में ही उसे अपना विरोधी मानकर व्यर्थ में ही टकराव की परिस्थितियों को उत्पन्न करने लगता है। इसके लिए आधुनिक साम्यवादी अकेला ही दोषी नही है।

जब-जब सन्त और ऋषि के रूप में साम्यवादी विचारधाराओं ने जन्म पाया उन्हे साम्राज्यवादी तथा समूहो का शोषण करने वाली शक्तियों से टकराना पड़ा। यह संघर्ष बहुत बार वैचारिक क्रान्ति तक ही सीमित रहे। बहुत-बहुत बार विचारो के टकराव अस्त्र-शस्त्र तक भी उतरे। भयंकर खून की होलियां हुई। अन्त में साम्यवादी सन्त विचारधारा ही विजयी रही। साम्राज्यवादी शक्तियों को साम्यवादी विचारधारा के सामने घुटने पड़े। दूसरो का शोषण करने वाले साम्राज्यवादी सामन्तवादी राजा और महाराजा भी, समता की लहरों को प्रवाहित करने वाले साम्यवादी सन्त के चरणो में झुक गये। युग ने जाना कि शोषण वृत्तियों का अन्त हो चुका है। इतिहास ने अपने भविष्य की करवटो में दिखाया कि वह सब झूठ था। वही ताकते जो भेदभाव की व्यवस्थाओं को देकर मनुष्य मात्र का

शोषण कर रही थी। उन्होंने सन्त, सत्ता और शक्ति के आगे झुककर केवल अल्पकालिक समझौता मात्र किया था। वे सब सन्त की शक्ति के आगे झुके थे, न कि उन्होंने अपने दिल बदले थे। सन्त के जाने के बाद ही वह शक्ति सम्पन्न, साम्राज्यवादी, साम्राज्य और शोषण वृत्तियों वाले लोग, सन्त की ही आड़ लेकर, अपनी वृत्तियों का प्रचार और प्रसार करने लगे। आत्मा होकर सब में विराजने वाला ईश्वर जो सर्वव्यापी है, वह भी इन शक्तियों का खिलौना बन कर रह गया। संत सब को जोड़ता रहा। सब में समभाव उत्पन्न करता रहा। संत हटा। वे सारी संकीर्ण विचारो वाली शक्तियां संत के नाम पर पंथ बनाने लगी। मनुष्य और मनुष्य में भेद करने लगीं। संत की आड़ में ही, संत के नाम पर भेदभाव की व्यवस्थाओं और शोषण की वृत्तियों को जन्मने लगी। जिसका चलन हमें सारे विश्व के इतिहास में सभी युगों में व्यापक रूप से देखने में मिलता है। इसलिए मैं मानता हूँ और ऐसा बहुत बार कहता भी हूँ, कि संत सदा निर्मल होता है और पंथ मतवाला हाथी। पंथ का मतवाला हाथी,पहले अपने ही संत के विचारों को कुचलने, मसलने चल देता है। संत के विचारो को नष्ट कर के उसका नया भ्रामक स्वरूप उत्पन्न करता है। उसके बाद यह पंथ का मतवाला हाथी सम्पूर्ण जन मानस को कुचलने चल देता है।

यह भी एक विडम्बना ही है कि जब पुनः यह साम्यवादी विचार धरा पर अवतरित होता है, तो अन्जाने अपने ही जैसे विचार का विरोधी बन बैठता है। धर्म और संस्कृति के प्रति टकराव की स्थितियाँ उत्पन्न कर देता है। ऐसा अतीत के इतिहास में बहुत बार हुआ है। आधुनिक साम्यवादी विचार इस बात को स्पष्ट कर के नही जान पाता है कि भेद भाव की व्यवस्थायें संत ने नही दीं, वरन् संत के उपरान्त उसी वर्ग ने दी हैं जिसने संत के साथ युद्ध किया और फिर घुटने टेके। इतिहास के लम्बे अन्तरालों में मैंने प्रत्येक बार साम्यवादी विचार को अर्थात् समभाव को, साम्राज्यवादी विचार में और विषम भाव में बदलते देखा है। आज का आधुनिक साम्यवाद भी दुर्भाग्य से इस भ्रान्ति का शिकार हो गया है। सम्यक् भाव से सब में वास करने वाले ईश्वर तथा इस सम्यक् भाव को देने वाले संत से टकराने के बजाय, जरूरत इस बात की थी, कि उस निर्मल संत को इन ठेकेदारों के कब्जे से अलग किया जाता। मेरे विचार से उचित मार्ग यही था। अतीत के राम और कृष्ण को तथा उनके दर्शन को कठमुल्लावाद से अलग कर, जनमानस तक पहुँचाया जाता। आधुनिक साम्यवादी विचार धारा का धर्म के प्रति विद्रोह बहुत ही बचकाना तथा अज्ञानपूर्ण है।

अतीत में भी ऐसा ही होता आया है। बुद्ध ने भी जब सनातन-धर्म और उसकी विचारधारा के खिलाफ विद्रोह किया तो बुद्ध नही जानता था कि वे सारे

शब्द और विचार जो जनमानस को दे रहा है, वे सारे विचार, उससे पूर्व, उस धर्म के संत ने भी दिये है। बुद्ध सब में समभाव लाना चाहता है। सनातन-धर्म को देने वाले वेद व्यास ने इसी समभाव को बुद्ध से कही ज्यादा व्यापक और मनोवैज्ञानिक रूप से जनमानस को दिया था। बुद्ध ने जो कुछ भी कहा वह सब आदि संत की विचारधाराओं में भी हमें ज्यों का त्यों देखने में मिलता है। तब फिर हम टकरायें क्यो ? स्पष्ट है कि समय के अन्तरालों में वेदव्यास की विचारधाराओं पर शोषणवादी समाज तथा विषम व्यवस्थाओं का पोषक समाज हावी हो चुका था। बौद्ध पंथ इस सत्य से अनभिज्ञ अतीत के संत और उसकी विचारधाराओं को ही विषमवादी मान कर उनसे टकराने लगा।

उसी प्रकार जैन सम्प्रदाय के महान संत भगवान महावीर के साथ भी हुआ। उसका अतीत के संत से विद्रोह भी इसी भ्रान्ति पूर्ण विचारधाराओं के कारण हुआ। महावीर और वेदव्यास के विचारो में कही पर भी थोड़ा सा भी अन्तर नही है। ये भी आश्चर्यजनक है कि आधुनिक साम्यवादी विचारधारा में वही सब कुछ है, जो अतीत के सारे सन्त देते रहे है। फिर भी न जाने क्यों हम सम्प्रदायों की माचिस की डिबियों में बंद हो रहे हैं। तथाकथित वादों में पशुओं की तरह बंधते रहे है। लड़ाए जाते रहे है। मैं ऐसा मानता हूँ कि इस दृष्टिकोण को लेकर सम्पूर्ण अतीत का, सारे विश्व में, पुनः अन्वेषण होना चाहिए। इसका बहुत बड़ा लाभ मनुष्य जाति को होगा। सारे विश्व का मनुष्य आदि काल से सिर्फ मनुष्य ही रहा है। समय के अंतरालों ने ही हमें राष्ट्रीयता, क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता जात और पात, अमीर और गरीब की भ्रमात्मक जेलों में बंद किया है। अतीत का सूक्ष्म चिन्तन ही हमें हमारी आत्मा की भांति ही सम्यक् भाव में लाकर, एक छोटे से मानव शरीर को सर्वव्यापी बना सकती है।

अध्याय – १२

धर्म का आधार

सनातन-धर्म ने आदि काल से प्रकृति को ही धर्म की मूल पुस्तक माना है तथा प्रकृति में ही धर्म की आधारशिला रखी है। सामाजिक व्यवस्थाएं हों या धार्मिक कार्य हों, सभी मान्यताओं में प्रकृति को ही सर्वोपरि माना गया है। जीव की उत्पत्ति को ढूंढ़ने के लिए भी धर्म ने प्रकृति में ही स्वयं को पाया है। सचराचर की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? उसे भी धर्म ने इस ऋचा में स्पष्ट किया है।

''ॐ ऋतंच्च सत्यंच्चाभीद्धात् तपसो ध्यजायत।
ततो रात्रजायत ततः समुद्रो अर्णवः ।। १ ।।
समुद्रदर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्रिणिम् विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी ।।२।।
सूर्यर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वम् कल्पयत् ।
दिवंच्च पृथिवींच्चान्तरिक्षमथो स्वः ।। ३ ।।

आत्मा ने प्रकृति को मोह लिया। दोनों प्रणय सूत्र में बंध गये। ''ऋत् और सत्य का प्रणय अनन्त क्षीर सागर में ग्रहों और नक्षत्रों को जन्मने लगा। प्रकृति और पुरुष की इस प्रणय कथा ने नाना ग्रहों, पृथ्वी, चांद और सितारों को जन्म दिया। फिर वे ग्रह परिक्रमाओं को प्राप्त हुए, तो संवतसर प्रकट हुए। दिन और रात प्रकट हुए। पुनः प्रकृति और पुरुष ने प्रणय लीलाओं के द्वारा जीवन्त सचराचर को प्रकट किया और कर रही है। प्रकृति जब भी आत्मा का स्पर्श पाती है। मिट्टी से फल और फल से पुनः बालक हो जाती है। सचराचर में पुरुष और प्रकृति की ये प्रणय लीला ही जीवन की गाथा है। जीवन्त सचराचर है। यही सनातन-धर्म की आधार शिला है।

तर्क की कसौटियों को भी भोजपत्रों और कागज के पन्नों तक सीमित नहीं किया गया था। तर्क की कसौटी सदा प्रकृति ही रही है। इसके जीवन्त प्रमाण सम्पूर्ण वेदों में तथा ''श्रीमद्भगवद्गीता'' के साथ सभी धर्म-ग्रन्थों में भी मिलते हैं। छोटी से छोटी बात को भी जब श्रीकृष्ण, गीता में अर्जुन को समझाते हैं तो उसे प्रकृति से ही प्रमाणित करते हैं। चाहे आवागमन की बात हो अथवा इन्द्रियाँ, विषय और आत्मस्थ होने की बात हो। गीता के श्लोकों में, प्रमाण में, लोक-लोकान्तरों लक की

उपमाएं आती हैं। कभी भी प्रमाण के रूप में केवल भोजपत्रों के रूप में लिखे ग्रन्थों की चर्चा नहीं होती। वरन् ''श्रीकृष्ण'' प्रत्येक बात को जीवन्त सचराचर में ही प्रमाणित करते हैं। गुलामी के काल में लुप्त हो गये बोधिकता के इन उन्नत स्तरों के बाद शास्त्रार्थ केवल व्याकरण और पुस्तकों तक सीमित रह गया। अतीत के ग्रन्थों में, कभी भी प्रमाण के रूप में किसी पुस्तक को नहीं गाया गया। किसी भी बात को प्रमाणित और सत्य तभी माना जाता था, जब वह जीवन्त सचराचर में, प्रमाणित, सिद्ध एवं प्रतिष्ठित हो। इस प्रकार का चलन विश्व के किसी भी धार्मिक स्कूल अथवा सम्प्रदाय में हमें देखने को नहीं मिलता। कुछ उदाहरण नियम संकलन के भी किस प्रकार प्रकृति प्रदत्त है, वह हम आपको दिखलाते हैं।

जीव और आत्मा के द्वैत को अद्वैत करना ही, मेरे जीवन की राह है। इसलिए प्रणाम, नमस्कार में मैं अपने ही दोनों हाथ जोड़कर करता हूँ। अपने दोनों हाथ, द्वैत जोड़कर नमस्कार के रूप में अद्वैत करता हूँ। दूसरे से हाथ मिलाने की परम्परा भारत की संस्कृति में नहीं रही, क्योंकि प्रणाम, नमस्कार मैं अपने ही हाथ जोड़कर करुंगा।

पृथ्वी बिना परिक्रमा के जीवन को धारण नहीं कर सकती। सभी ग्रह और नक्षत्र पुनर्परिक्रमाओं को प्राप्त है। मेरी कोई भी धार्मिक, सामाजिक कृति बिना परिक्रमा के कैसे पूर्ण और जीवन्त हो सकती है ? मन्दिर में देवों की परिक्रमा, यज्ञादि की परिक्रमा, विवाह की परिक्रमा, चिता पर रखे शव की परिक्रमा तथा मनुष्य का जीवन भी आवागमन की परिक्रमा को ही प्राप्त है। क्योंकि यही तो प्रकृति का नियम है। आश्चर्य जनक ढंग से हम पाते हैं कि अतीत के संत और ऋषि सभी व्यवस्थाओं को सूक्ष्मता के साथ प्रकृति के सत्य से बांधते चले आये हैं।

जीवन और मृत्यु में भी प्रकृति को ही धर्म मानकर रचा गया है। जिसकी चर्चा हम पूर्व अध्यायों में भी कर चुके हैं। मृत देह, धूमकेतु हो गये ग्रह की भांति है, इसलिए उसे चिता की लकड़ियों पर बिन्दुओं में विसर्जित कर दो। जैसा पूरा ग्रह बिन्दुओं में विसर्जित हो जाता है। अल्पायु में मर गये बालक को प्रकृति में हो रहे उल्का-पात की भांति हो जानों। उसे जल अथवा भूमि समाधि दो। इस प्रकार जहां जो भी नियम धर्म ने बताये उनको किसी कपोल कल्पना से नहीं लिया, वरन् जीवन्त सचराचर को ही उसका आधार बनाया गया।

यही कारण है कि बहुत से सम्प्रदायों का हठ और प्रभाव भी सनातन-धर्म की विचारधारा को नहीं बदल पाया। जब तक जीवन्त सचराचर न बदले, सनातन-धर्म भी अपने नियम नही बदल सकता है। मत-मतान्तरों की आंधियाँ भी धीरे-धीरे, छोटे-छोटे सम्प्रदायों में, सनातन-सागर में व्याप्त होती चली

गयी।

ईश्वर की प्राप्ति का माध्यम भी धर्म ने जीवन्त सचराचर में ही खोजा। जब धर्म की व्याख्या करने की बात आयी। तो हमने जानना चाहा कि धर्म क्या है ? तो वेद ने उत्तर दिया।

''सत्य ही धर्म है !''

हमने जानना चाहा ये सत्य क्या है ? वेद ने सत्य को दो भागों में बांट दिया' सत्य' और 'ऋत्'। हमने जानना चाहा कि ये सत्य और ऋत् क्या हैं ? उत्तर मिला,

'सत्य दही की भांति है उसे जब ऋषियों ने मन्थन किया तो ऋत् रूपी मक्ख्न के कण प्रगट हुए। इन कणों को एकत्र करके ऋषियों ने जब मक्खन के गोलें बनायें तो वे ऋत् से ऋचाएँ कहलाए। ऋचाओं रूपी मक्खन के गोलों को जिस पात्र में रखा गया, वह पात्र ऋत् से ऋग्वेद कहलाया। इस मक्खन को पान करने वाला ददृष्टा ऋत् से ऋषि कहलाया।''

हमने पुनः जानना चाहा कि ये ऋत् रूपी मक्खन जिस सत्य रूपी दही से प्रकट हुआ उसका रहस्य क्या है ?

वेद ने उत्तर दिया, 'सत्य आदि ऋषि है और ऋत् आदि देव है।'

धीरे-धीरे सब स्पष्ट होने लगा ऋषि शब्द का प्रयोग साधक के लिए होता है। 'ऋत्' शब्द का प्रयोग साध्य के लिए होता है। वेद ने सत्य को साधक और साध्य दो भागों में विभक्त कर दिया। साधक प्रकृति है और साध्य आत्मा है। साधक अर्थात प्रकृति और साध्य अर्थात् आत्मा। इन दोनो का प्रणय ही तो जीवन्त सचराचर है। उनके द्वारा प्रकट हुआ सत्य ही धर्म है। उनकी प्रणय-लीला लीला के रूप में ग्रहण की गयी। लीला-ग्रन्थ, धर्म की व्याख्या ग्रन्थ के रूप में जाने गये। जिन्हें आज 'रास-लीला' शब्द से जानते हैं। उनका पूर्व नाम 'रहस्य-लीला' रहा है। आत्मा और प्रकृति की सचराचर लीलाओं को जीवन की कथाओं में ढालकर ईश्वरीय लीला के रूप में देखने की परिपाटी को 'रहस्य-लीला' कहते थे। कालान्तर में 'रहस्य' का अपभ्रंश 'रहास' हो गया। जो पुनः कुछ समय के उपरांत ''रास'' बनकर रह गया। इस प्रकार''रहस्य-लीलायें'' ''रास-लीलायें'' हो गयीं। इनके रहस्यों को संक्षिप्त रूप से अगले अध्यायों में स्पष्ट करेंगें।

धर्म रूपी वृक्ष के बीज के रूप में सनातन-धर्म नें ''ॐ'' शब्द की कल्पना की। ''ॐ'' में तीन अक्षर है। अ + उ + म = ''ॐ'' जिसे ऋग्वेद में प्रथम ऋचा में स्पष्ट किया गया है।

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्यं देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।।१.१.१.

(अग्निम्) अर्थात् अग्नियों के अधिपति प्रलय के देवता महाशिव (पुरोहित) सम्पूर्ण सचराचर को तत्व, रूप, बीज प्रकट करने वाले ब्रह्मा (यज्ञस्य) देव लोक को जीतने वाले महा विष्णु (यज्ञस्य देवं) वह ही इस शरीर रूपी यज्ञशाला में आत्मा होकर यज्ञ का अधिष्ठित देव है।

यथा :-

अ - अस्तित्त, तत्व, धारक, ब्रम्हा।

उ - उत्पत्ति, सृजन, सृजक, विष्णु।

म - मृत्यु, मृत्युंज्जय, महेश।

(होतारम्) हम सब पर न्यौछावर कर रहे हैं। (रत्नधातमम्) जीवन की स्वर्णमयी उपलब्धियां अमृतमय क्षण (ईले) उनकी स्तुति कर उनसे योगकर अद्वैत हो जाये।

''ॐ'' रूपी प्रणव में ही ब्रम्हा के साथ सरस्वती, विष्णु के साथ लक्ष्मी तथा महेश के साथ पार्वती, इन देवियों का समावेश है। इस प्रकार धर्म रूपी वृक्ष का ''ॐ'' रूपी बीज अर्थात् प्रणव ग्रहण किया गया।

प्रणव ही सृष्टि का मूल है। सम्पूर्ण सचराचर को धारण, सृजन और संहार करने वाला ये प्रणव है। इस प्रकार जीवन और उत्पत्ति को प्रणव के द्वारा सृष्टि में ग्रहण किया गया है। ''ॐ'' शब्द आदिकाल से धर्म-ग्रन्थों में आता है। आर्य-समाज ने इस शब्द को भी मन चाहे ढंग से मरोड़ दिया है, वह ''ॐ'' न लिखकर अब ''ओइम्'' लिखते हैं। ''ओइम्'' शब्द से वे क्या सिद्ध करते हैं स्पष्ट नहीं है ? सम्भवतः ओह, ईसा, मुहम्मद अथवा कुछ और हमें मालूम नहीं ?

धारण, सृजन और संहार के देवताओं के चयन में भी सूक्ष्म विज्ञान और मनोविज्ञान का पूराध्यान रखा गया। विष्णु सृजन का देवता है। सृजन माया रहित क्षेत्र अर्थात् क्षीर-सागर में ही सम्भव है। चाहे पेड़-पौधों के भीतर का क्षीर-सागर हो अथवा शरीर के भीतर का क्षीर-सागर हो या अनन्त क्षीर-सागर हो, क्षीर-सागर में ही उत्पत्ति सम्भव है। पेड़-क्षीर-सागर में ही मिट्टी से फल बना सकता है। फल शरीर के क्षीर सागर में ही यज्ञ होकर सन्तान का स्वरूप ग्रहण कर सकते हैं। माया (ग्रेविटी) में केवल विसर्जन अर्थात् संहार ही सम्भव है। सृजन का देवता क्षीर-सागर में वास करेगा। क्षीर-सागर में विष्णु शेषशयन करते हैं। ध ुरी-भ्रमण तथा परिक्रमा करते ग्रहों और नक्षत्रों के सुदर्शन चक्र को विष्णु की ऊंगली में दिखाया गया है। प्रलय के देवता महा शिव हैं। तीन शूल का त्रिशूल उनके

हाथ में है। प्रलय का तांडव अंग-अंग में समाया हुआ है। उनका स्थान भी माया की परिधि के भीतर ही कैलाश पर्वत पर है। ब्रम्हा का कोई स्थान नहीं बनाया गया है, क्योंकि ब्रम्ह, प्रलय और संहार दोनों अवस्थाओं में विद्यमान रहतें हैं। इसलिए ब्रम्ह सर्वत्र है।

वाहन के चयन में भी सूक्ष्म दर्शन आता है। शक्ति का वाहन शेर है, जो स्वयं शक्ति का प्रतीक है। वात्सल्य और प्रेम के देवता कृष्ण के साथ गाय है। जो वात्सल्य और प्रेम की जननी है। इसी प्रकार इन्द्र के साथ ''ऐरावत'' हाथी है। इन्द्र वर्षा का देवता है। घुमड़ते हुए बादल ही मस्त हाथियों के प्रतीक हैं। इन्द्र के हाथ में वज्र है, जो कौंधती हुई बिजलियों को बिम्बित करता है।

सनातन-धर्म व्यापक रूप से सचराचर को ही, धर्म का आधार मानता है। मानवीय स्तर पर मानवता को ही धर्म का आधार माना गया है। *मनुष्यता से गिरा हुआ कोई भी अथवा वाक्य ईश्वर का वाक्य नहीं हो सकता।* ये मान्यता सनातन-धर्म की आदि-काल से रही है। ईश्वर मनुष्यता से ऊपर का मार्ग है। प्राणी मात्र के प्रति समर्पित सेवाओं का भाव है। सचराचर से प्रेम करने की राह है। सबमें ईश्वर को देखने की एक सुखद कल्पना है।

''ईश्वर'' शब्द ऐश्वर्य से बना है जो प्राणी मात्र को ऐश्वर्य दे, स्वयं को भुलाकर; उसे ईश्वर कहते हैं। आत्मा होकर ईश्वर ही मिट्टी को अन्न में प्रकट करता है, पेड़ पौधों के गर्भ में। प्रत्येक व्यक्ति को पेट भरने का सम्मान वह यथोचित देता है। आत्मा होकर ईश्वर ही अन्न को देह में, बालक के रूप में लौटाता है। माता-पिता का सम्मान वह स्वयं न लेकर यथा देहधारियों को देता है। इसी प्रकार धर्म ने कहा, कि जिसने प्राणी मात्र की सेवाओं में अपने जीवन के सुखें को विसर्जित कर दिया हो। जो अपने सुखों का परित्याग का प्राणी मात्र के प्रति समर्पित सेवाओं में अपने आप को बलिदान कर गया हो, उसे भी तुम ईश्वर ही जानों। सनातन-धर्म में ईश्वर एक अनूठी कल्पना है, प्राणी मात्र के प्रति समर्पण हैं, प्यार है, त्याग है, बलिदान है, सर्वस्व को न्यौछावर करने का भाव है। वही ईश्वर है।

अध्याय – १३

जीवन का संचार

आधुनिक विज्ञान जीवन के संचार को लेकर नाना प्रकार की धारणायें प्रस्तुत करता है। "चार्ल्स डारबिन" की मान्यता के अनुसार "अमीबा और बैक्टीरिया से वनस्पतियां और जीवधारी उत्पन्न हुए, जिसे पाश्चात्य वैज्ञानिक भी नहीं मानते हैं। पिछले दो सौ साल में अमीबा और बैक्टीरिया दोनों एक कोषीय जीव ही पाये गये। वह दो कोषीय भी नहीं हुए हैं। वे असंख्य जीवधारियों में कैसे परिणित हुए होंगे ? आज के युग में डारविन इतिहास के अंग बनकर रह गये हैं। उनसे पूर्व भी नाना सम्प्रदायों ने, नाना प्रकार के जीवों की उत्पत्ति की कल्पनाएं की हैं, विशेषकर मनुष्य की उत्पत्ति "एडन्" और "ईव" अथवा "आदम" और "हौवा" की कहानी से की जाती है। सनातन-धर्म ने यज्ञ से उत्पत्ति को स्वीकारा है। यज्ञ के द्वारा ही क्षीरसागर में बिन्दु ब्रह्माण्डों में सृजित होते हैं।

सनातन-धर्म की मान्यता के अनुसार जीवधारी जब भी कभी बनाये गये होंगे, उन्हें क्षीरसागर में ही उत्पन्न किया गया होगा। माया (ग्रैविटी) में किसी भी नूतन जीवन्त देह का निर्माण नहीं हो सकता। बालक की उत्पत्ति मां के गर्भ रूपी क्षीरसागर में अथवा अनन्त क्षीरसागर में ही सम्भव है, इसलिए जीव का प्रथम रूप निश्चित रूप से क्षीरसागर (स्पेस) में हुआ। क्षीरसागर में उनकी उत्पत्ति करके माया में जीवन्त करके उतारा गया होगा। जिससे वे अपने शरीर के गर्भ रूपी क्षीरसागर से अपनी वंश वृद्धि कर सके। इस विषय को "सनातन दर्शन की पृष्ठभूमि" नामक पुस्तक में, मैं विस्तार से दे चुका हूँ।

वेद ने जल की उत्पत्ति को भी क्षीरसागर में ही माना है। गंगा अवतरण की कथा के द्वारा इस ग्रह पर जल कैसे उतारा गया इसका पूरा विस्तार मैं "सनातन दर्शन की पृष्ठभूमि" में कर चुका हूँ। जल की धारायें पृथ्वी और चन्द्रमा की मायाओं के संतुलन को आधार मानकर जलावतरण किया गया। जब पूरी तरह से जल इस धरती पर व्याप्त हो गया। तब देवयानों के द्वारा क्षीरसागर से जीवन स्थानान्तरित किया गया। जीवन नाना ग्रहों और नक्षत्रों से स्थानान्तरित करके यहां लाया गया जिसका विस्तार पुराणों में मिलता है।

वेद "बिग-बैंग" की कहानी को भी अस्वीकार करते हैं। वेद के विज्ञान के अनुसार टूटकर, कभी ग्रह नहीं बनते। एक ग्रह टूटकर दो ग्रह कदापि नहीं बन सकते। टुकड़े हो गया ग्रह, महाविनाश को चला जाता है। सूरज से पृथ्वी के टुकड़े

होकर अलग होना, एक बहुत ही बड़ा मजाक है। सूरज की सतह पर जितनी गर्मी है उतनी गर्मी में जल का रहना भी असम्भव है। उतनी गर्मी में भाप और गैस भी नहीं रह सकती। केवल विक्षिप्त परमाणुओं का रहना ही सम्भव है, ऐसी अवस्था में टुकड़ों का टूटकर धरती बन जाना एक बहुत बड़ा मजाक है।

वेद की मान्यता के अनुसार क्षीरसागर में परमाणु सुशुप्त अवस्था को प्राप्त होकर जुड़ने लगते हैं। नन्हीं-नन्हीं गोलियां धीरे-धीरे विस्तार को प्राप्त हो, उल्काओं को प्राप्त होती हैं। इन उल्काओं को यदि क्षीरसागर की अवस्थाएं निरन्तर मिलती रहती हैं तो धीरे-धीरे ये ग्रहों और नक्षत्रों को प्राप्त होती है। इसी प्रकार अनन्त क्षीरसागर (स्पेस) में निरन्तर ग्रहों और नक्षत्रों का निर्माण होता रहता है। इसी प्रकार मायाओं के असंतुलित होने के कारण ग्रह, महाप्रलय को प्राप्त होते धुम्रकेतु बन, पुनः बिन्दुओं में विसर्जित हो जाते हैं। जैसे बालक कहीं जन्मा और कहीं कोई बूढ़ा व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होता है, उसी प्रकार ग्रह और नक्षत्र निरन्तर प्रक्रिया में बिन्दु से ब्रह्माण्ड बनते पुनः महाप्रलय को चले जाते हैं। इस विषय का विस्तार भी ''सनातन दर्शन की पृष्ठभूमि'' में मैं कर चुका हूँ।

अध्याय – १४

लीला ग्रन्थ

सनातन-धर्म में लीला ग्रन्थों की भरमार है, लीला-ग्रन्थ सनातन धर्म की आदिकालीन, सर्वथा मौलिक अनूठी देन है। इस प्रकार के ग्रन्थों का चलन विश्व के दूसरे धर्मों और सम्प्रदायों में नहीं मिलता है। 'लीला' शब्द का अर्थ है सत्य का नाटक अथवा नाटकीय प्रस्तुतीकरण।

कल्पना करें कि आप छोटे बच्चों के स्कूल में, सबसे छोटी क्लास में खड़े हैं। पाठशाला के कमरे में एक अध्यापक है, बाकी छात्र हैं। अध्यापक छात्रों को अक्षर ज्ञान कराने के लिए प्रतीकों के माध्यम से अक्षरों का परिचय करा रहा है, यथा कबूतर से 'क', खरबूजे से 'ख', गोभी से 'ग' इत्यादि। पहले अध्यापक इन शब्दों का जोर से उच्चारण करता है, उपरांत बच्चे अध्यापक का अनुसरण करते हैं। यहां पर अध्यापक लीला कर रहा है, और अनुसरण करते बच्चे उसका व्यवहारिक आचरण कर रहे है। यही लीला-ग्रन्थों की परिपाटी है। यहां ईश्वर अध्यापक की तरह लीला कर रहा है, तथा हम सबको छात्र बच्चों की भांति उसका व्यवहारिक अनुसरण करना है। यहीं लीला-ग्रंथ हैं।

सनातन-धर्म में ईश्वर को सबमें देखने की बात कही गयी है, हमें सबमें ईश्वर को देखना है। सारे संसार को प्यांर करना है। भगवान श्रीराम, श्रीकृष्ण जो भी नाम है, वह सबमें नामधारी परमेश्वर आत्मा होकर घट-घट वासी हैं। प्रत्येक शरीर मन्दिर है। आत्मा का सच्चा भक्त वही है जो प्राणी मात्र में ईश्वर के दर्शन करता हुआ सबके हित में व्यवहारिक होकर जिए। इसी आधारभूत कल्पना को लेकर व्यापक रूप से लीला-ग्रन्थ प्रकट किये गए हैं। ईश्वर घट-घट वासी है, हमें भी उसे हर घट में देखना है तथा उसी के हित में जीना है, सनातन-धर्म में, गृहस्थ का समाज से परित्याग का अर्थ है, सीमित दायरों से बाहर निकलकर, असीम होकर जीना। यहां पर त्याग का अर्थ यह नहीं है कि अपने लोगों का परित्याग कर देना। त्याग का अर्थ है, "वासनात्मक संकीर्ण दृष्टिकोणों का परित्याग"। अपने और पराये भेदभाव का परित्याग। सबमें अपनेपन का भाव लाना। घट-घट वासी आत्मा की भांति ही सबके हित में समर्पित होकर जीना। आत्मा की तरह ही भेदभाव से रहित अभेदभाव से जीना। इसी व्यापक परिकल्पना के कारण ही यहां ईश्वर सदा घट-घट वासी रहा। ईश्वर कभी सातवें आसमान नहीं गया। यहां त्याग का मात्र इतना ही अर्थ है, "संकीर्ण आसक्तियों के जीवन से परित्यक्त होकर

ईश्वरीय अलौकिक प्रेम के असीम गगन में उन्मुक्त जीना'' यहां पर आसमानों को जिन्दगी में उतारने की बात है, न कि आसमानों में भागने की बात है। सनातन-धर्म सातों आसमानों को भी धरती पर उतार देता है। भक्त के हृदय में सातों आसमान समा जाते हैं। सम्पूर्ण सचराचर उसकी देह में व्याप्त हो जाता है ईश्वर को जीवन के प्रत्येक क्षंण में व्यवहारिक रूप से उतराने की सरस मधुर राह को सनातन-धर्म के लीला-ग्रन्थ आदि काल से प्रशस्त करते रहें हैं।

यशोदा जी ने कृष्ण से कहा, ''कन्हैया तुने मिट्टी खायी है?'' गोपाल मना करते हैं। मां मुंह खोलकर दिखाने के लिए कहती है। बाल कन्हैया मुंह खोलकर मां को दिखाते हैं। मां स्तब्ध रह जाती है देखकर। मां देखती है तीनों लोक। मां को कृष्ण के मुंह में सारे ब्रह्माण्ड और तीनों लोक दिखाई पड़ते हैं। इस लीला का यही अर्थ है, जब सम्पूर्ण सचराचर को उत्पन्न करने वाला ईश्वर, आत्मा होकर तुम्हारे भीतर बैठा है, तो वे सारे लोक भी सृष्टि के साथ, सूक्ष्म होकर तुम्हीं में व्याप्त हैं। उन्हें अपने भीतर खोजो।

जीवन के सभी स्तरों को अध्यात्म से जोड़कर आत्मस्थ जीवन जीना ही लीला-ग्रन्थों की परिपाटी है। लीलाओं के द्वारा बच्चों को शिक्षित करने की, गुरूकुल की परिपाटी आदिकाल से रही है। ऐतिहासिक घटनाक्रम को घट-घट वासी आत्मा पर डालकर रहस्य-लीलाओं का संकलन प्रत्येक युग में हुआ है। ''श्रीराम'' कथा त्रेतायुग की कहानी है। ऐतिहासिक घटनाक्रम को घट-घट वासी आत्मा के साथ आत्मस्थ करके, यह कथा उस युग में प्रकट होती है। यह इतिहास भी है और विशुद्ध रूप से प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक क्षण की व्यापक कथा है।

दस इन्द्रियों को रथने वाला ''दशरथ'' है। दस इन्द्रियों को दस मुंह बनाने वाला दशानन है। घट-घट वासी आत्मा ''श्रीराम'' ! धरती की बेटी मनुष्य की देह, प्रकृति और प्रवृत्ति, सीता ! एक ओर इतिहास, दूसरी ओर विशुद्ध रूप से प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की कथा है। प्रत्येक पात्र को ''यथा नाम तथा गुण'' बड़े ही मोहक ढंग से दुहरे अर्थों में गाया गया है। इस कथा को ''सरयु के तट'' नामक ग्रन्थ में विस्तार से मैं दे चुका हूँ।

कृष्ण की कथा 'द्वापर युग' की कहानी है, पुनः इतिहास और अध्यात्म का अद्भुत अलौकिक समिश्रण है।

कृष्ण, कंस की जेल में प्रकट होते हैं। माता-पिता का नाम 'देवकी' और 'वसुदेव' है। छठी का आनन्द माता-पिता के रूप में नन्द और यशोदा लेते हैं। ये पुनः घट-घट की कहानी है। प्रत्येक बालक आज भी इस शरीर रूपी जेल में ही

जन्म लेता है। गर्भ में बालक की देह को बनाने वाले 'वसुदेव' अर्थात् अग्नियों का देवता, आत्मा है। माता देवकी अर्थात् ब्रम्ह ज्वाला है। शरीर जेल है जिसका राजा मन कंस है। जिसकी सारी इन्द्रियां बहिर्मुखी है। जब बालक इस शरीर रूपी जेल से बाहर होता है तब संसारिक माता-पिता नन्द और यशोदा की भांति ही तो उसे पालते हैं। जो माता थाली भर भोजन से एक ऊँगली का टुकड़ा नही बना सकती, तब उसने बालक कहां बनाया ? आज भी ''वसुदेव'' और देवकी ही प्रत्येक बालक को उत्पन्न करते हैं तथा हम सब नन्द और यशोदा बनकर उन्हें पालते हैं। इस कथा के व्यापक स्वरूप को ''लीला-दर्पण'' नामक पुस्तक में तथा सनातन दर्शन के नौ अध्याय नामक ग्रन्थ में मैं विस्तार से दे चुका हूँ।

'महाभारत' भी इसी धारा का महाकाव्य है। जिसकी गहराई को समझे बिना उसका प्रदर्शन बड़े ही घटिया किस्म से टेलीविजन पर दिखाया गया है। 'महाभारत' में जब विचित्र वीर्य और चित्रांगद निपूते अर्थात् सन्तानहीन होकर मर जाते हैं। सत्यवती दुःखी हो जाती है। वेदव्यास को बुलाती है। वेदव्यास सत्यवती को आश्वासन देते हैं। कि भले ही कुरूवंश समाप्त हो चुका है। तब भी वे इस 'महाभारत' नामक महाकाव्य के द्वारा उसे अमरता प्रदान करेंगे। वेदव्यास अम्बे और अम्बालिके से धृतराष्ट्र और पाण्डु को नेत्रों के द्वारा प्रकट करते हैं। वेदव्यास अम्बे और अम्बालिके से धृतराष्ट्र और पाण्डु को नेत्रों के द्वारा प्रकट करते हैं। नेत्रों से नियोग नहीं होता है। विलक्षण बुद्धिवादियों ने उसके मन चाहे अर्थ कर रखे हैं। वेदव्यास के कहने का अर्थ है, कि उनके नेत्रों से अर्थात् उनकी कल्पना की आंखों से पात्र प्रकट होंगे। जिनके द्वारा वे इतिहास को मोड़कर अध्यात्म का स्वरूप देंगे। जिससे कुरूवंश अमर हो जायेगा, और वेदव्यास के नेत्रों से प्रकट हुए पुत्र इस वंश वृक्ष को आगे बढ़ायेंगे। संस्कृत में 'अम्ब' माने आंख होता है। अम्बे से धृतराष्ट्र अर्थात् अंधकाल प्रकट होता है। अम्बालिके से पाण्डु अर्थात् पांच तत्वों से बना ये शरीर तथा दासी से विदुर अर्थात् ज्ञान की विनम्र ज्योतियों को धारण करने वाला प्रकट होता है। पुनः भागवत् में वेदव्यास इस रहस्य का अनावरण भी करते हैं कि 'धृतराष्ट्र' काल का अवतार है। 'विदुर' यम का अवतार है। इससे भी स्पष्ट होता है कि लीला-ग्रन्थों में इतिहास के महत्व को घटा कर पूरे कथानक को, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन पर घटने वाले नाना भावों और घटनाओं को ग्रहण किया जाता रहा है। लीला-ग्रन्थों में इतिहास मात्र उदाहरणार्थ ही स्वीकार किया गया है। जबकि ग्रंथ का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति के सर्वांग सम्पूर्ण जीवन को प्रदर्शित करना रहा है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' दिव्यदर्शन, भाष्य-ग्रन्थों में मैंने इसे व्यापक रूप से स्पष्ट किया है। ''महाभारत'' पूरी तरह से एक व्यापक लीला-ग्रन्थ है। वेदव्यास ने ग्रंथ के

आरम्भ में ही ब्रह्मा जी तथा गणपति की कथाओं के द्वारा इसे पूरी तरह से सुस्पष्ट कर दिया है। धृतराष्ट्र और पाण्डु के जन्म के उपरांत उनकी संतति का जन्म भी असाधारण दिखाया गया है। पांचों पांडव मंत्र के द्वारा प्रकट होते हैं, जो कि पुनः ज्ञान की धाराओं के ही प्रतीक हैं।

धृतराष्ट्र की संतति भी बड़े ही विलक्षण ढंग से होती है। अंधाकाल धृतराष्ट और स्वयं को अंधा करने की वृत्ति अर्थात् आंखों पर पट्टी बांधने वाली 'गांधारी' एक पिंड को जन्मती है। जिसके सौ टुकड़े करने का आदेश होता है। परन्तु गलती से एक सौ एक टुकड़े हो जाते हैं। इन एक सौ एक टुकड़ों से सौ कौरव तथा एक उनकी बहन ''दुःशला'' प्रकट होती है, जन्म लेती हैं। अंधाकाल अर्थात् समय और स्वयं को अंधा करने की वृत्ति गांधारी से उत्पन्न एक सौ एक असंख्य अतृप्तियां, एक मस्तिष्क रूपी पिण्ड से उत्पन्न होती है। उन्हें 'धार्तराष्ट्र' अर्थात् कौरवों के रूप में दर्शाया गया है। इन सभी ग्रंथों का अवलोकन करने से एक अद्भुत गम्भीर साहित्यिक लीला-ग्रन्थों की परिपाटी सनातन-धर्म में, देखने में आती है। जो इतिहास, ज्ञान, विज्ञान तथा सभी प्रकार की मान्यताओं को स्वयं में समेटते हुए, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के भीतर, बाहर का दर्शन कराती है। शिक्षा में इन ग्रंथों का बड़ा व्यापक प्रभाव रहा है। इन्हीं ग्रन्थों के माध्यम से आसमानों पर विचरते ईश्वर को प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में उतारा गया है। उसके जीवन को ईश्वरमय, सुन्दर और सरस बनाया गया है।

इतिहास पुरुष कृष्ण, भागवत में जुड़कर एक हो जाते हैं। इस सत्य को न समझने के कारण आधुनिक विद्वानों ने लीला-ग्रन्थों ने प्रति मन चाहे संदेह प्रकट किये हैं। जिनका कोई भी औचित्य नहीं है।

जब इतिहास पुरुष को बाण लगा था। देविका नदी के किनारे वे समाधिस्थ थे। बलराम जी ने उनके पार्थिव को देविका की लहरों से बाहर निकाला। इतिहास पुरुष लुप्त हो गए तब। इसकी सूचना वेदव्यास को अर्जुन ने दी। वेदव्यास उसी स्थान पर आये। कृष्ण, वेदव्यास के परमेश्वर थे। पितामह ने उनको सदा अपने अराध्य के रूप में जाना था उनका व्यक्तित्व इतना अधिक विलक्षण था, जिसका वर्णन वेदव्यास ने अपने काव्यों में बारम्बार किया है। वेदों के संकलन में वेदव्यास लिखते हैं, कि उन्होंने वेद का संकलन मात्र किया है। उसके रहस्य को वह स्वयं नहीं जानते थे। ''श्रीकृष्ण'' ही एक दिव्य पुरुष थे, जिन्होंने वेद के रहस्य को स्पष्ट रूप से वेदव्यास को सुनाया था। इसीलिए वेदव्यास उनके दिव्य, अलौकिक और युगान्तर स्वरूप को सभी स्थानों पर स्वीकारते रहें हैं। ''देविका'' के तट पर वेदव्यास फूट-फूटकर रोये। उन्होंने वहां पर संकल्प लिया था, ''कृष्ण तुम भले मेरे

नेत्रों से लुप्त हो गए हो, परन्तु मेरे अराध्य, मैं तुम्हें धरती के हर क्षण में अमर कर दूंगा।''

वेदव्यास ने आत्म तत्व को, अपने नायक कृष्ण के साथ जोड़कर ''महाभारत'' रूपी महाकाव्य का सृजन किया। भागवत रूपी अमृतमय ग्रंथ दिया तथा हरिवंश पुराण में उन्होंने उनके ऐतिहासिक स्वरूप को भी प्रकट किया है। लीला-ग्रन्थों की एक अद्भुत अलौकिक परिपाटी परमेश्वर को प्रत्येक देह में प्रकट करती रही है। हर व्यक्ति के जीवन को ईश्वरमय बनाती रही है तथा आसमानों को हर व्यक्ति के जीवन में उतारती रही है। भारत का भक्त कभी आसमानों की ओर नही भागा, उसने सदा आसमानों को अपने भीतर उतारा।

लीला-ग्रन्थों के नायक भगवान विष्णु, श्रीरामचन्द्र तथा श्रीकृष्ण तीनों ही नील-वर्ण हैं। धरती पर अवतरित होते नील गगन हैं। नीलाकाश हैं।

अध्याय – १५

ज्योतिर्विज्ञान

सनातन-धर्म मे ज्योर्तिविज्ञान को धर्म की आंख बताया गया है। ज्योतिष की आंखों से ही ज्ञान देखता है। ऐसी आदि प्राचीन मान्यता है। समय का निरूपण भी, सारे विश्व में सबसे पहले; सनातन-धर्म के द्वारा ही हुआ है। सनातन-धर्म की काल-निरूपण-प्रणाली को आज भी सारा विश्व मानकर चलता है।

समय की इकाई क्या हो ? जब इस प्रश्न को लेकर हम वेद के पास जाते हैं तो हमें उत्तर मिलता है, कि समय तो मिथ्यावाद है। गति ही सत्य है। गति को ही समय की इकाई मानें। इसे हम उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं। आपके हाथ में घड़ी बंधी है जो चौबीस घण्टे, दिन और रात के बताती है। ये घड़ी सत्य नहीं है। सत्य तो पृथ्वी का धुरी-भ्रमण है। जितनी देर में पृथ्वी अपनी धुरी पर एक बार घूम लेती है, उतने ही समय को चौबीस भागों में विभक्त कर चौबीस घण्टों की कल्पना की गयी। यदि आज पृथ्वी अपनी धुरी पर बहुत धीरे-धीरे घूमने लगे, तो ये सारी घड़ियां व्यर्थ हो जायेगी तथा हमें गति के अनुरूप पुनः घड़ियों को सही कराना पड़ेगा। इससे स्पष्ट है कि घड़ी सत्य नहीं है वरन् धुरी-भ्रमण की गति ही सत्य है, जो समय की इकाई है। इस प्रकार वेद ने घड़ी के घण्टों को समय की इकाई नहीं माना। वरन् धुरी भ्रमण की गति को ही सत्य स्वीकारा। वेद की इस मान्यता को ही आज सारा विश्व समय अथवा टाइम के रूप में जानता है।

प्रत्येक ग्रह किसी न किसी ग्रह की परिक्रमा कर रहा हैं चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता है। पृथ्वी, चन्द्रमा को संग लिए बाकी ग्रहों के साथ, सूर्य की परिक्रमा करती है। परिक्रमा चाहे छोटी हो अथवा बड़ी, उसके अंश सदा तीन सौ साठ ही रहते हैं। किसी वृत्त में तीन सौ साठ अंश ही होते हैं। धर्म ने अंश को ही तिथि के रूप में स्वीकारा। तीन सौ साठ अंशों की सम्पूर्ण परिक्रमा तथा तीन सौ साठ तिथियों का पूरा वर्ष होगा। इस प्रकार काल निरूपण प्रणाली की कल्पना की गयी। इसके अतिरिक्त समय की कोई कल्पना हो भी नहीं सकती है। नाना लोक, लोकान्तरों, ग्रहों और नक्षत्रों पर गति और अंशों के अनुपात से ही सभी स्थानों पर के समय को नियमित किया जा सकता था। इसीलिए परिक्रमा को ही वर्ष का प्रमाण माना गया। तीस तिथियों का एक मास बना तथा बारह मास अर्थात् तीन सौ साठ तिथियों का वर्ष हो गया। उसी प्रकार तीस अंश की एक राशि बनी तथा बारह राशियों का जन्म-चक्र कहलाया।

चूँकि ग्रह अपनी परिक्रमाओं को गति, दूरी तथा जिस ग्रह की परिक्रमा कर रहा है, उसकी सीमाओं के कारण समय सभी स्थानों पर एक सा नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्येक ग्रह की परिक्रमा ही उस ग्रह के वर्ष का प्रमाण बनी। जितनी देर में पृथ्वी सूर्य की एक परिक्रमा करती है उतने ही समय में चन्द्रमा पृथ्वी की लगभग बारह परिक्रमाएं करता है। इसलिए पृथ्वी का एक वर्ष चन्द्रमा के बारह वर्षों के बराबर हो गया। इसी प्रकार जितनी देर में पृथ्वी, सूर्य की बारह परिक्रमा करती है। उतने ही समय में वृहस्पति, सूर्य की एक परिक्रमा करता है। इस प्रकार बृहस्पति का एक वर्ष धरती के बारह वर्षों के बराबर हो गया। जितने समय में शनि, सूर्यदेव की एक परिक्रमा करता है, उतने ही समय में पृथ्वी, सूर्य की तीस परिक्रमा करती हैं पृथ्वी के तीस वर्ष शनि के एक वर्ष के बराबर हो गया। इसी समय को ज्योतिष में भी दिखलाया गया। बृहस्पति प्रत्येक राशि में एक वर्ष रहता हुआ, बारह वर्ष में पूर्ण परिक्रमा को प्राप्त होता है। उसी प्रकार शनि भी बारह राशियों का परिभ्रमण ढाई वर्ष प्रत्येक राशि में रहते हुए करता है। इस प्रकार काल निरूपण प्रणाली की अन्तर-ग्रह-पद्धति प्रकट हुई। इसी पद्धति का आगे अन्तर्त-ब्रम्हाण्डीय स्वरूप प्रकट हुआ।

जितनी देर में पृथ्वी सूर्यदेव की तैंतालीस लाख बीस हजार परिक्रमा करती है, उतनी ही देर में सूर्य अपने सम्पूर्ण ग्रहों के साथ देवलोंक की एक परिक्रमा को प्राप्त होता है। 'देव-लोक' को विज्ञान की भाषा में 'ग्लैक्सी' कहते हैं। इस प्रकार पृथ्वी के तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष, सूर्य के एक वर्ष के बराबर हो गये। वेद ने आगे बताया कि देवलोक भी परिक्रमाओं को प्राप्त हैं। जितनी देर में सौरमण्डल देवलोक की एक हजार परिक्रमा करता है, उतने समय में देव-लोक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की एक परिक्रमा को प्राप्त होता है। इस प्रकार देव-लोक की सात सौ बीस परिक्रमायें पूरी होने पर 'ब्रह्मा' का एक वर्ष होता है।

आश्चर्य की बात है कि वेद समय में मनुष्यता को अन्तर ब्रम्हाण्डीय कालनिरूपण - प्रणाली की क्यों कर आवश्यकता हुई ? आज भी हमे इस प्रणाली की आवश्यकता नहीं है। परन्तु यदि हम ग्रहों और नक्षत्रों पर यानों के द्वारा आवागमन प्रारम्भ कर दें, तो हमें इस प्रणाली की अत्यधिक आवश्यकता है। लाखों प्रकाश वर्ष दूर ग्रहों और नक्षत्रों पर देवयान उतारने के लिए इस प्रणाली की हमें पूरी-पूरी आवश्यकता होगी। इस प्रणाली के बिना कोई भी आकाश भेदी आवागमन नहीं हो सकता। कहीं ऐसा तो नहीं कि जिस युग के ये ग्रन्थ हैं। उस युग के देवयानों की कल्पना एक बहुत बड़ा सत्य था ! अन्यथा इस प्रणाली की इतनी व्यापकता से धरावासियों को क्या जरूरत थी ?

ज्योर्तिविज्ञान में माया शब्द का प्रयोग ग्रेविटी के लिए आया है। दो ध्रुवों के मध्य का आकर्षण माया है। स्त्री और पुरुष में न तो स्त्री ही माया है। और न पुरुष ही माया है। उन दोनों के बीच प्रेम आसक्ति घृणा, मोहासक्ति ये सब माया हैं। इसी प्रकार दो ग्रहों के बीच का गुरुत्वाकर्षण ही माया है। सनातन ज्योतिष में माया को ही जीव की उत्पत्ति, जीवन का संचालन तथा मृत्यु का कारण बताया गया है। ज्योतिष पूर्णतः इन्हीं मायाओं के विभिन्न प्रभावों को जांचने, मापने की सूक्ष्म वैज्ञानिक प्रणाली है। जब बालक उत्पन्न होता है, तब ज्योतिषी जन्म काल (ईष्टकाल) को केन्द्र मानकर बारह राशियों का जन्म चक्र बनाता है। उसी दिन, उसी समय पर, उसी क्षण में, गोचर में, ग्रहों का जो स्थान होता है, उसी स्थान पर वह बारह राशियों में उन ग्रहों को रख देता है। ये बालक के जन्म के समय ग्रहों के गुरूत्वाकर्षण की स्थिति हैं प्रत्येक ग्रह निरन्तर गतिमान हो रहा है, उसकी बदलती अवस्थाओं के अनुरूप ग्रहों की मायाओं का बदलता प्रभाव भी बालक के शरीर पर पड़ रहा है। माया के बदलते प्रभाव से अर्थात् जन्मकाल से ग्रहों से लेकर बदलते ग्रहों की बदलती मायाओं के अनुपातों को, जांचने, मापने, परखने तथा उससे बालक के शरीर पर मानसिक, शारीरिक, वैचारिक, स्वाभावगत तथा कालगत प्रभावों को जानने की विद्या का नाम ज्योतिष है।

इस प्रकार ज्योतिष गुरूत्वाकार्षण के नाना प्रभावों को जांचने और मापने की अद्‌भुत वैज्ञानिक विद्या है। आधुनिक विज्ञान अभी तक ग्रेविटी के नाना प्रभावों के तथा नाना प्रकार के गुरूत्वाकर्षण को तो जानते हैं। परन्तु सूक्ष्म और अति सूक्ष्म गुरूत्वाकर्षण और उसके प्रभावों को जानना आधुनिक वैज्ञानिकों के लिए एक चुनौती बना हुआ है। आश्चर्य है कि वेद के युग के मनुष्य इतने सूक्ष्म विज्ञान और मनोविज्ञान को कैसे जानते थे ? सूक्ष्म विज्ञान तक उनकी इतनी व्यापक पहुंच कैसे थी? वे गुरूत्वाकर्षण के विभिन्न प्रभावों को जानते थे तथा उनसे प्रभावित होने वाले व्यदित्यों की भविष्यवाणी भी करते थे ? आज का विज्ञान इस विद्या के किसी भी स्तर को सूक्ष्मता से स्पष्ट नहीं कर पाया है।

उस काल का वैज्ञानिक ग्रहों के प्रभाव को, देश की राजनीतिक, समाजशास्त्र आदि सभी पर आंकता और मापता रहा है। ये स्वयं में अत्यधिक आश्चर्यजनक और विलक्षण बात है। ज्योतिष के द्वारा ही समय, काल आदि का निर्णय भी सनातन-धर्म में होता रहा है। व्रत, त्योहार आदि सभी गणंना के द्वारा ही सिद्ध किये जाते रहे हैं। वेद में तथा सम्पूर्ण सनातन-धर्म के ग्रन्थों में ज्योतिष विज्ञान का बहुत ही ऊँचा स्थान है। इसे धर्म की आंख कहा गया है, क्योंकि कोई भी त्योहार, व्रत तथा शुभ कार्य के लिए, शुभ समय की गणना ज्योतिष के द्वारा

ही सम्भव है। बालक का जन्म ज्योतिष से ही आरम्भ होता है। उसके सभी संस्कार ज्योतिष के द्वारा ही किये जाते हैं, विवाह की वेदी का समय भी ज्योतिष ही बतायेगा इस प्रकार भारत की संस्कृति में आदि-काल से ज्योतिष सनातन-धर्म का एक पूर्ण वैज्ञानिक स्तम्भ रहा है।

इस विषय का विस्तार मैं अपनी पुस्तक 'सनातन-दर्शन की पृष्ठ भूमि' में कर चुका हूँ। अभी भी उसके व्यापक शोध और अनुसंधान की आवश्यकता है। यह भी भारत-भारती का दुर्भाग्य ही है, कि शिक्षा में इन विषयों को उचित स्थान नहीं दिया गया है।

अध्याय – १६
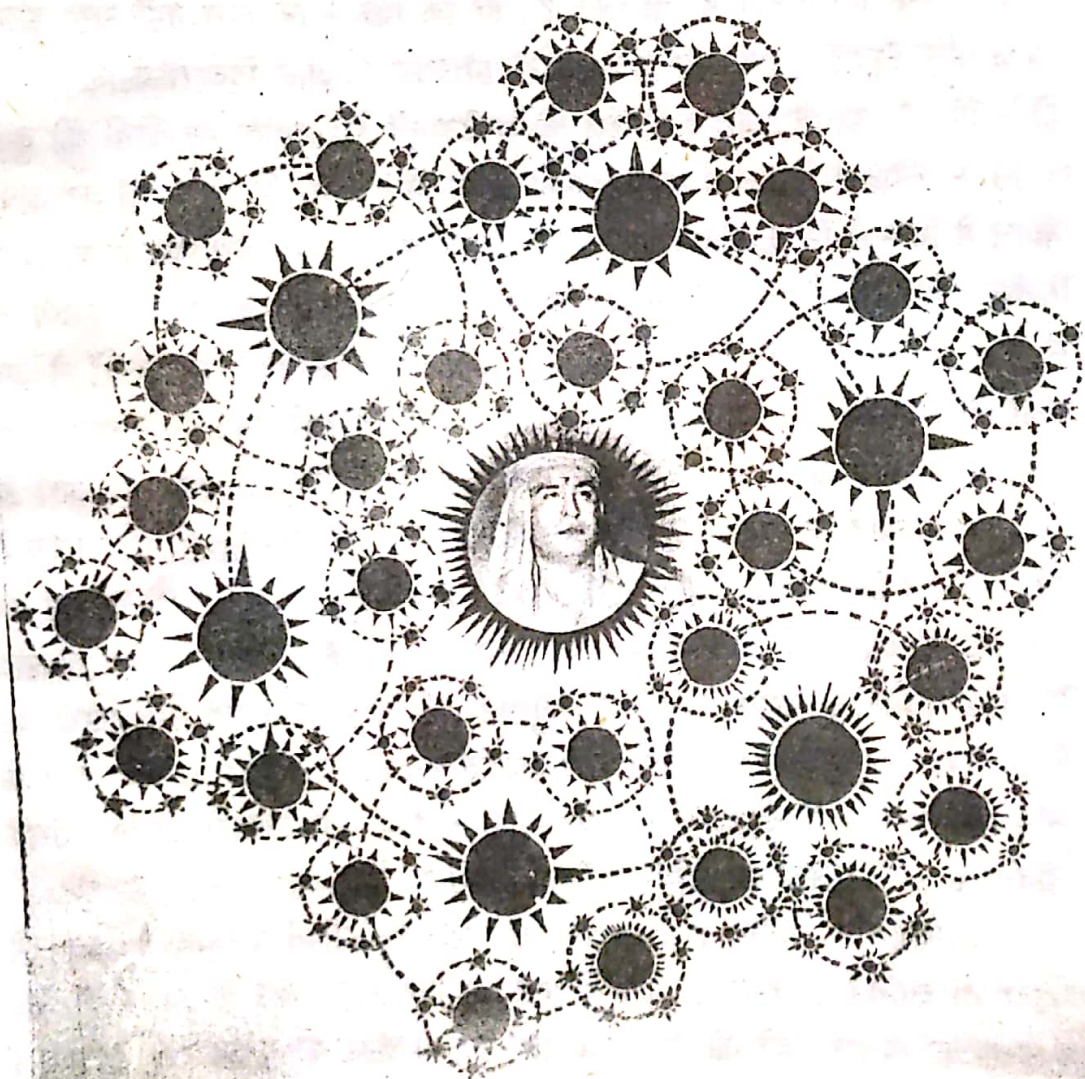
साधना

साधना शब्द का अर्थ है विचारों को साधना अर्थात् नियंत्रण में लाना। साधना, सनातन-धर्म में, व्यापक जीवन को ही कहा गया है। जिसके विचार नहीं सधे, उसका जीवन व्यर्थ है। आप कल्पना करें महाभारत युद्ध की। एक रथ पर सारथी कृष्ण और महारथी अर्जुन विराजमान हैं। रथ में कई घोड़े लगे हैं, जिनकी लगामों को सारथी कुशलता पूर्वक नियंत्रण में रखते हुए, रथ को चला रहे हैं। आप इस कल्पना का चित्र उभारें।

इस चित्र को अपने जीवन में उतारें। जीव होकर, बुद्धि होकर आप ही हो तो सारथी हैं। विचार ही तो घोड़े हैं। जिसके विचार नियंत्रित नहीं हुए, उसका रथ अर्थात् जीवन लड़खड़ाकर नष्ट ही तो हो जायेगा। आज विचारों के घोड़े, बुद्धि को लगाम में रखकर, जीवन के रथ को घसीट रहें हैं। जबकि इन घोड़ों को बुद्धि लगाम के नियंत्रण में चलना था। जिसका अपने विचारों पर नियंत्रण नहीं वह अपने जीवन में किसको नियंत्रित कर सकता है ? हममें से बहुत कम ऐसे लोग हैं जो अपने विचारों को अपनी बुद्धि के अनुशासन में रख पायें। क्रोध का विचार आया तो सीमाओं से बाहर होकर अभद्र व्यवहार करने लगे। वासनाओं के विचारों ने जब घसीटना शुरू किया तो हम विवेक शून्य होकर बहकते चले गये। हर विचार हमारे सभी दृष्टिकोणों की/हत्या करता हमें घसीटता रहा है। साधना शब्द का अर्थ है; विचार रूपी घोड़ों को साधना, अराध्य रूपी खूँटों पर बांधना। सत्संग और सद्ग्रंथों का भोजन देकर, विचारों को पुष्ट, नियंत्रित एवं सुसंस्कृत करना। यही साधना का एक व्यापक दर्शन रहा है, साधक सर्वांग साधक होता है। साधना जीवन की राह है! एक सुघड़ कलात्मक जीवन है। गुलामी के लम्बे अन्तरालों में, दूसरो की देखा-देखी, साधना विकृत होकर कोरी इबादत बनकर रह गयी। वेद ने मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को उसके क्रिया कलापों को, मान्यताओं और विचारों को तथा उसके जीवन के प्रत्येक क्षण को साधना की राह बताया है।

विचार ही हमारे शरीर तथा मुखमण्डल का सौंदर्य प्रसाधन है। क्रोध में चेहरा तमतमाकर लाल हो उठता है। क्रोध का विचार ही चेहरे को लाल रंग देता है। भय का विचार चेहरे को पीला कर देता है तथा चेहरे को मुरझा देता है। कसाई का चेहरा भयानक हो उठता है वहीं पर एक विनम्र संत, साधक का चेहरा आयु की सीमाओं को नकारता हुआ सौम्य और कोमल रहता है। स्पष्ट है कि हिंसा के

विचार कसाई के चेहरे को भयानकता का आवरण देते है, वहीं पर विनम्र और भक्ति का विचार चेहरे को सौम्यता का मेकप प्रदान करता है। सनातन-धर्म के संत और मनीषीजन सूक्ष्म वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक सत्य से, आदिकाल से परिचित रहे है। इसीलिए उन्होंने साधना को बहुत ही व्यावहारिक बनाया है।

सधे हुए विचारों के जीवन को ही मनुष्य के दूसरे जन्म का आरम्भ कहा गया है। सूक्ष्म रूप से द्विज धर्म की कल्पना का यह विशिष्ठ आधार रहा है। एक नये व्यक्तित्व को जन्म देना। इसी हाँड़-मांस के शरीर में रहते हुए एक विश्व व्यापी व्यक्तित्व को जन्म देकर धरती का ईश्वर बनाना।

कल्पना करें कि आप एक पर्वत के सामने खड़े हैं। बहुत उचाँ पहाड़ है वह । बहुत छोटे से है आप, उस पहाड़ के सामने। आप पर्वतारोही की भांति उस पहाड़ पर चढ़ने लगते हैं। निरन्तर पर्वत पर चढ़ते जाते हैं। एक समय ऐसा आता है कि जब आप पर्वत से भी उँचे हो जाते हैं। क्योंकि आप पर्वत के उपर खड़े हैं। यही साधना की राह है। भक्त घट-घटवासी आत्मा की एक सुन्दर कल्पना मन्दिर और मूर्ति में सजाता है। सर्वांग सुन्दर प्रभु की मूर्ति अपने नेत्रों में; मन में तथा हृदय में बसाता है। ये सुन्दर नेत्र ही मेरे अन्तर में बस रहे मेरे प्रभु की सुन्दर छवि है। उनके कमल के समान सुन्दर नेत्र हैं। खिली हुई पुष्प की पंखुड़ियों से सुन्दर होंठ हैं। ज्योर्तिमय सर्वांग सुन्दर मुखाकृति है उनकी। उनकी सम्पूर्ण देह से शान्ति दायनी नीलाभ, ज्योतियां प्रस्फुटित हो रही हैं। मेरे मोहक परमेश्वर इस मूर्ति में प्रकट हैं। वे सर्व व्यापी है। वे घट-घट के वासी हैं। वे परम् पुनीत हैं। वे सर्वशक्तिमान हैं। वे सचराचर के स्वामी हैं।

एक पर्वताकार व्यक्तित्व की कल्पना मूर्ति के माध्यम से भक्त अपने हृदय में सजाता है। फिर ध्यान की खूटियों और साधना की रस्सियों के साथ वह पर्वतारोहण आरम्भ कर देता है। उपरोक्त विचार मूर्ति के माध्यम से उसके मस्तिष्क में बारम्बार चमकते हैं। पुनः-पुनः उसके ध्यान में विचार मुस्कराते हैं। उसकी आस्था भक्ति और सर्मपण को पुष्ट करती है। धीरे-धीरे ये विचार उसके मस्तिष्क में गहराइयों तक पैठंते हुए, उसके सुशुप्त मस्तिष्क में अपना अमिट घर बना लेते है। मूर्ति से टकराकर लौटते विचार उसके नेत्रों को, उसकी नासिका को, उसके होंठो को, उसकी मुखाकृति को यथा रंग देने लगते हैं। उसके सौंदर्य प्रसाधन बन जाते हैं। सर्वशक्तिमान, अविनाशी परमृपिता की भावना के विचार उसमें एक पर्वताकार व्यक्तित्व को उत्पन्न करने लगते है। विचारों से पुष्ट हो साधना की रस्सियों पर निरन्तर आगे बढ़ता भक्त, धीरे-धीरे आराध्य की कल्पना के सांचे में ढलता, तद्रूप हो जाता है। मूर्ति सांचा बनती है और उसके विचार उसको सर्वांग

इस सांचे में ढालने लगते हैं। आदिकाल से चली आ रही सनातन धर्म की परम्परायें, युगों-युगों से मानवता को पवित्रता, दिव्यता और भव्यता प्रदान करती रही हैं। पत्थर की मूर्ति पर भले मेरे विचारों का प्रभाव न पड़ा हो, परन्तु पत्थर की मूर्ति से टकराकर मैंने सदा गगन सा उन्नत और प्रकृति सा व्यापक स्वरूप पाया है। इस मूर्ति ने कभी मुझसे तनख्वाह न मांगी, भोजन न लिया, कोई इच्छा भी तो न रखी। फिर भी इस मूर्ति ने मुझे हर युग में सजाया, सवांरा और मुझे ईश्वर से सदा जोड़कर ही रखा। जहां दूसरे लोग आसमानों को खोज रहे थे। मेरी मूर्ति मुझमें सारे आसमान उतार रही थी और आसमान वाले को उतार रही थी।

मूर्ति अभेद है। आत्मा भी अभेद है। मूर्ति इच्छाओं से रहित है। आत्मा भी इच्छाओं से रहित है। मूर्ति में बदले की भावना नहीं है। आत्मा में बदले की भावना नहीं है। मूर्ति संदेहों से परे है। वह झूठ नहीं बोल सकती, चोरी नहीं कर सकती, वासनाओं में लिप्त नहीं हो सकती है। किसी प्रकार की सांसारिक लिप्सा उसमें प्रकट नहीं हो सकती, ये सारी अवस्थायें आत्मा की हैं। इसलिए सनातन-धर्म के आदि सन्त, ऋषि और मनीषिजन साधना के सांचे के रूप में मूर्ति को ही देते रहे हैं। कोई भी व्यक्ति सदा के लिए इन अवस्थाओं को प्राप्त नहीं हो सकता। यदि हो भी जाय, तो भी साधना करते उसके भक्त, परिस्थिति जन्य साख्यों अथवा अफ्वाहों के कारण उसमें अनास्था और संदेह ला सकते हैं। ऐसी स्थिति में भक्त की सारी साधाना नष्ट हो जाती है। उसका अपना व्यक्तित्व खंडित हो जाता है। इसी मनोवैज्ञानिक, अकाट्य सत्य के कारण व्यक्ति पूजा के स्थान पर मूर्ति पूजा को ही प्रशस्त किया गया। मूर्ति से जुड़ी आस्था यदि ज्ञानपरक है, तो कभी भी खण्डित नहीं हो सकती। अंध आस्थाओं का स्थान आदिकालीन धर्म में नहीं है।

एक सांस्कृतिक, सामाजिक और भौगोलिक सत्य की चर्चा भी मैं आपसे करना चाहूँगा। सारा देश मूर्ति की रस्सियों से बंधा होकर ही एक राष्ट्र है। जहां-जहां ये मन्दिर और मूर्तियां हैं। वहीं तक लोग अपने आप को भारतीय मानते हैं। जहां-जहां मूर्ति को स्थान नहीं मिला है, वहां के लोग तथा प्रदेश आज भी राष्ट्रीय एकत्व के लिए भयानक घुटन और आतंक बने हुए हैं। मूर्ति का अनादर भारत का अनादर है। मूर्ति के प्रति लायी गयी अनास्था भारत को मिटाने जैसा षडयन्त्र है। मूर्ति तोड़ना, भारत तोड़ने के समान है।

पूजा, जाप, व्रत आदि साधना के ही अंग है। सनातन-धर्म में साधना के नाना मार्ग दर्शाए गये हैं। मन चाहे मार्ग पर साधना की जा सकती है। नाना प्रकार के विधि-विधान पुनः इस बात को स्पष्ट करते हैं कि सनातन-धर्म संकीर्णताओं में

विश्वास नहीं करता। सनातन-धर्म की आस्था व्यक्ति मात्र के उत्थान में रही है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सहज प्रवृत्ति एवं इच्छाओं के अनुरूप मार्ग का अनुसरण करता हुआ साधना के उच्चतम शिखर को छू सकता है। नाना सम्प्रदायों की भांति ही धर्म ने उदार भाव से नाना प्रकार के विधि विधान को स्वीकार किया। जिसे मैं वेद के पांच महा वाक्यों के रूप में स्पष्ट कर चुका हूँ।

सम्पूर्ण विधि-विधान जब ऊपर को उठने लगते हैं, तो एक परमेश्वर की भांति ही एकत्व में समाते चले जाते हैं। उदाहरण के रूप में मार्कण्डेय की संक्षिप्त कथा दे रहा हूँ। मार्कण्डेय सीमित आयु को लेकर जन्मे थे। उनके माता-पिता को भी मालूम था कि मार्कण्डेय की आयु मात्र १३ वर्ष ही है। माता-पिता उसकी बढ़ती हुई आयु के साथ ही उदास और भयभीत रहने लगे। उनकी उदासी का कारण पूछे जाने पर मार्कण्डेय को बता दिया कि उसकी आयु अधिक नहीं है। मार्कण्डेय ने बन में जाकर ईश्वर को प्राप्त करने की इच्छा जाहिर की, जिसे माता-पिता ने स्वीकार कर लिया। मार्कण्डेय वन में, एक नदी के तट के समीप तपस्या करने लगे। नित्य-प्रति नियमपूर्वक वे भगवान महाशिव का लिंग बनाते। नदी से जल लाते तथा वनों से पुष्प ला करके पूजा किया करते थे। एक बार नारद मुनि, मार्कण्डेय से मिलने आये, तो उन्होंने मार्कण्डेय को समझाया, कि उसका समय शीघ्र समाप्त होने वाला है। उसे अब वन-वन भटकना नहीं चाहिए, वरन् एकत्व में खो जाना चाहिए। उन्होंने मार्कण्डेय से कहा कि मार्कण्डेय अब महाशिव की लिंग स्थापना ध्यानस्थ होकर अपनी देह के भीतर करे। ध्यान में ही जल चढ़ायें, ध्यान में ही पुष्प चढ़ाए। मार्कण्डेय ने ऐसा ही किया वे भगवान शिव को अपने अन्तर हृदय में ध्यानस्थ होकर प्रतिष्ठित करता हुआ अब ध्यान से जल, ध्यान से पुष्प और सामग्री से समाधिस्थ होकर पूजा करने लगा। धीरे-धीरे वह महाशिव के ध्यान में पूर्णत समाधिस्थ हो गया।

समय पूर्ण हुआ। यमराज मार्कण्डेय को लेने के लिए आये। उन्होंने काल-पाश फेका। परन्तु यह क्या ? नागपाश में प्रलयंकर रुद्र बंधे हुये थे, वे भयंकर रूप से क्रोधित होकर यमराज की ओर दौड़े। यमराज भयभीत होकर उनके चरणों में गिर पड़ा। उसने प्रार्थना की, 'प्रभु ! मैंने तो मार्कण्डेय को कालपाश में बांधा था?

महाशिव ने उत्तर दिया, 'यमराज जो जीव मुझमें एकी भाव में स्थित हो जाता है, वह मेरा ही स्वरूप हो जाता है। उसको बांधने का साहस तुमने कैसे किया?' मार्कण्डेय अमर हो गया। इसी प्रकार की असंख्यों कथायें सनातन-धर्म के धर्मग्रन्थों में सर्वत्र दर्शायी गयी है। नाना मार्ग तथा विधि-विधानों के होते हुए भी धर्म नें एक राह दिखायी है। एक ही लक्ष्य है। साधना द्वारा आत्माद्वैत।

स्वत्वाधिकारी परम योगी श्री स्वामी सनातन श्री

द्वारा

कमल बुक बाइन्डर्स

पन्ना लाल रोड, डालीगंज, लखनऊ पर मुद्रित एवं

निष्काम पीठ प्रकाशन प्रा. लि.

कुर्सी रोड, लखनऊ - ७ के लिए प्रकाशित।